# सूरदास

डॉ. रामफेर त्रिपाठी



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रकाशक :
डॉ० सुधाकर अदीब
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ।

स्मृति संरक्षण योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

ग्रन्थमाला संख्या- 4



प्रथम संस्करण : 2002
द्वितीय संस्करण : 2010
तृतीय संस्करण : 2013

ISBN : 978-93-82175-12-4

प्रतियाँ : 500

मूल्य : ₹ 45.00 (पैंतालिस)

मुद्रक :
प्रकाश पैकेजर्स
257, गोलागंज, लखनऊ

# प्रकाशकीय

गोस्वामी विट्ठलदास ने जिस अष्टछाप कविमण्डल की स्थापना की थी, सूरदास उसके प्रमुख स्तम्भ हैं। उनकी रचनाओं में 'सूर सागर' सर्वाधिक चर्चित है। 'सूरसारावली' और 'साहित्य लहरी' की गणना भी उनकी प्रमुख रचनाओं में होती है। उनकी रचना के केन्द्र में कृष्ण भक्ति प्रमुख है, जो व्यापक अर्थों में अनन्त सत्ता और मानव के बीच अनन्य सम्बन्धों को अभिव्यक्ति देती है। वात्सल्य और श्रृंगार को समर्पित सूरदास की अनेकानेक पंक्तियाँ लोक में घुली–मिली हैं – 'मैया मोरी, मैं नहीं माखन खायो, 'मों सो कौन–कुटिल खल कामी', 'बसौ मोरे नैनन में नंदलाल' और 'ऊधौ, मन नाहीं दस–'बीस' जैसी रचनाओं का लालित्य सभी को आनन्दित करता है।

माना जाता है कि उनका जन्म 1478 ईसवी में हुआ था। भक्तिकाल के कवियों ने, अध्यात्म के मार्ग द्वारा जीवन के प्रति अनुराग पैदा किया। समकालीन बुराइयों के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति दी लौकिक जीवन में लोगों को प्राणिमात्र के प्रति भी स्नेहिल बनाया। स्वाभाविक रूप से इस तरह, न केवल तत्कालीन मानव का आत्मविश्वास बढ़ा। चिंतन क्षेत्र व्यापक हुआ, अपितु अवमूल्यनग्रस्त परिवेश के सामने खड़े होने एवं आत्म परिष्कार की समझ और चेतना भी बढ़ी।

सूरदास के सरल कवि व्यक्तित्व को डॉ० रामफेर त्रिपाठी ने पुस्तक 'सूरदास' में समग्रता में नियोजित किया है। उनकी रचनाओं पर अच्छी और सारगर्भित चर्चा की है। डॉ० रामफेर त्रिपाठी हिन्दी साहित्य के प्रतिनिधि हस्ताक्षर हैं और विशेषकर भक्तिकाल के कवियों पर उनका विशद अध्ययन है जो इस रचना 'सूरदास' में दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने इस पुस्तक को 12 अध्यायों में बाँटा है – परिवेश, जीवनयात्रा, सर्जनाएँ. तत्व चिंतन, भाव भक्ति, सौंदर्य संचेतना, काव्य संवेदना, प्रकृति परिवेश, शिल्प सौष्ठव, भ्रमर गीत, आकलन और

सूर–सम्प्रदाय। इन अध्यायों के बीच सूरदास के विहंगम व्यक्तित्व पर समग्रता से प्रकाश डालने कां सफल प्रयास डॉ० त्रिपाठी ने किया है। भक्तिकाल की चार प्रमुख धाराओं – ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी, कृष्णाश्रयी और रामाश्रयी–में निश्चय ही यह पुस्तक कृष्णाश्रयी शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि महात्मा सूरदास के अमूल्य योगदान को प्रतिपादित करने में सहयोगी है।

इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक के तृतीय संस्करण के प्रकाशन–अवसर पर उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान अत्यंत हर्ष का अनुभव कर रहा है। 'स्मृति संरक्षण योजना' के अन्तर्गत प्रकाशित इस पुस्तक 'सूरदास' के अध्ययन एवं रसास्वादन की दिशा में, आशा है शोधार्थियों सहित जिज्ञासु पाठकों द्वारा निश्चय ही भरपूर लाभ उठाया जाएगा।

**डॉ. सुधाकर अदीब**
निदेशक

# निवेदन

विचार और उसकी अभिव्यक्तियाँ जितनी निश्छल और सरल–सहज होती हैं, साहित्य उतनी ही ऊँचाइयों पर प्रतिष्ठित होता है। कविता के सम्बन्ध में तो यह तथ्य मानो अपना प्रमाण आप है। विशेषकर भक्तिकाल के कवियों की रचनाओं में भाव और उसकी अभिव्यक्ति की यह निश्छलता पग–पग पर दिखती है। इन कवियों के बीच सूरदास सिरमौर हैं। वात्सल्य और श्रृंगार को उन्होंने जिस तरह अपनी रचनाओं में सहेजा है, वह हिन्दी ही नहीं अपितु विश्व–साहित्य की अनमोल धरोहर है। सूर, तुलसी और कबीर प्रभृति भक्तिकालीन कवियों की रचनाओं की असाधारण ऊँचाइयों का एक कारण सम्भवतः यह भी है कि इनके लिए कविता लक्ष्य नहीं अपितु साधना, समाज सुधार और महान–मानव मूल्यों की अभिव्यक्ति का माध्यम रही। इन तीनों ही महाकवियों ने विभिन्न रसों और क्षेत्रों में जो ऊँचाइयाँ छुईं, वे अद्‌भुत हैं।

जहां तक सूरदास का सन्दर्भ है, उन्होंने वात्सल्य और बाल मनोविज्ञान को अत्यन्त आत्मीय भाव से शब्द दिये हैं इसी कारण उनके पद जनसामान्य से लेकर विद्वत समाज के मध्य भी समान रूप से लोकप्रिय हैं। सूरदास के निकट कविता अपनी सरलतम निश्छलता के साथ आती है और समय बीतने के साथ–साथ अनेक परिवर्तनों के बीच भी यह निश्छलता नित नई ऊँचाइयाँ छूती अनुभव होती है। ऐसे महाकवि के प्रेरक व्यक्तित्व को डॉक्टर् रामफेर त्रिपाठी ने इस पुस्तक 'सूरदास' में जिस तरह से अत्यंत सरल ढंग से वर्णित किया है, वह सामान्य से लेकर विशिष्ट पाठकों तक सभी के लिए उपयोगी है। चाहे सूरदास के समय का परिवेश रहा हो या उनका चिंतन, भक्ति और सौन्दर्य चेतना रही हो या काव्य संवेदना, शिल्प सौष्ठव रहा हो या प्रकृति वर्णन –– सभी जगह विद्वान लेखक ने सार्थक अभिव्यक्ति में सफलता पायी है। यही कारण है कि पुस्तक के पिछले दो संस्करण पाठकों के बीच अत्यंत सराहे गये और अब तीसरा संस्करण आपके हाथों में है।

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि आज पाठकों की कमी है और पुस्तकें उपेक्षित हैं, जबकि सच्चाई इसके विपरीत है। यह सही है कि आज का व्यक्ति पहले से अधिक व्यस्त है और उसका प्रयास रहता हे कि समग्रता में वह विषय–विशेष को एक जगह पर ही देख–पढ़ सके, उसका रसास्वादन कर सके। जिन महाकवियों, विषयों और विधाओं के सन्दर्भ में हिन्दी संसार ऐसा करने में सफल रहा है, ऐसी प्रस्तुतियों को पाठकों ने हाथों–हाथ स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि पुस्तकों की लोकप्रियता कम नहीं हुई है, उन्हें अपनाने के तौर तरीके बदले हैं और यदि कोई रचना विशेष इस कसौटी पर खरी उतरती है तो पाठक अधिकाधिक क्षेत्रों, विधाओं और विशेषकर उनकी विभूतियों के बारे में जानने के लिए हर क्षण तत्पर रहता है। 'सूरदास' की रचना के साथ डॉ० रामफेर त्रिपाठी समय के इस बदलाव को भी आत्मसात करने में सफल रहे हैं, कम शब्दों में व्यवस्थित ढ़ंग से महाकवि सूरदास के प्रेरक व्यक्तित्व को समग्रता में देख सके हैं, इसी के कारण इसके पाठकों का संसार लगातार बढ़ रहा है। पुस्तक का यह तीसरा संस्करण इस लोकप्रियता का प्रमाण है। आशा करनी चाहिए कि इसे भी हिन्दी पाठक पहले की ही तरह अपनायेंगे, आदर देंगे।

**उदय प्रताप सिंह**
कार्यकारी अध्यक्ष

# अनुक्रम


| क्र. सं. | विषय | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| 1. | परिवेश | 1 |
| 2. | जीवन–यात्रा | 8 |
| 3. | सर्जनाएँ | 21 |
| 4. | तत्त्व–चिंतन | 36 |
| 5. | भाव–भक्ति | 43 |
| 6. | सौंदर्य–संचेतना | 50 |
| 7. | काव्य–संवेदना | 60 |
| 8. | प्रकृति परिवेश | 88 |
| 9. | शिल्प–सौष्ठव | 96 |
| 10. | भ्रमर गीत | 112 |
| 11. | आकलन | 126 |
| 12. | सूर–सम्प्रसाद | 132 |

# परिवेश

हिन्दी में जिसे पूर्व मध्यकाल या भक्तिकाल कहा जाता है, समग्रतः वह भक्ति भावना से ओतप्रोत एक ऐसा कालखण्ड है, जिसमें भक्ति-साहित्य का सागर उमड़ता नज़र आता है।

इस सागर को श्रीसंपन्न बनानेवाली भक्ति की चार प्रधान बड़ी काव्यधाराएँ हैं—ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी, कृष्णाश्रयी और रामाश्रयी। इन चारों भक्ति—शाखाओं में चार ऐसे महाकवि हुए, जो अपनी—अपनी धारा के सर्वोपरि आधार—स्तम्भ हैं। क्रमशः उनके नाम हैं—कबीरदास, मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास और तुलसीदास। इनमें यदि हम कृष्ण भक्ति—काव्य के महामहिम कवि सूरदास के संपूर्ण जीवन—क्रम को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, अत्यंत संक्षेप में समझना चाहें तो यही कहना होगा कि "सूरदास के जन्म के समय बहलोल लोदी का शासन था, उनकी बाल्यावस्था और तरुणावस्था सिकंदर लोदी के शासनकाल में बीती, उसी समय वल्लभाचार्य से उनकी भेंट हुई और उनका कृष्णलीला के विधिवत् गायन का रचना—काल इब्राहिम लोदी, बाबर, शेरशाह तथा उसके उत्तराधिकारियों, हुमायूँ और अकबर के राज्य—शासन में बीता।"[1] लेकिन अकबर के शासनकाल में सूरकाव्य—काव्य का चरम विकास हुआ। यह एक आश्चर्य और विडम्बना का विषय है कि किसी भी इतिहासकार ने इस महाकवि का नाम तक नहीं लिया।

उस समय तक भक्ति का नया आन्दोलन दक्षिण भारत में प्रतिष्ठित हो चुका था। किन्तु, जहाँ तक हिन्दुओं के धर्म, संस्कृति, साहित्य आदि का सवाल है, वहाँ उनकी दशा पर्याप्त विषम थी। लोक—चित्त हताश और निराश हो चुका था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तत्कालीन देश की राजनीतिक स्थिति को इस निराशा का मूल कारण मानते हुए लिखा है —"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश नहीं रह गया। उसके सामने ही उसके देवमन्दिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न ही बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़नेवाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था"[2]।

---

1. 'सूरदास'—डॉ. व्रजेश्वर वर्मा, पृ. 16, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्क.—1990 ई.
2. हिन्दी. साहित्य का इतिहास, पृ. 43, संस्करण 17वाँ

और चाहे जो भी हो, किन्तु, यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस हताश और निराश लोकचित्त ने उत्तरी भारत में दक्षिण से आई भक्ति की इस नयी लहर को प्रवेश दिलाने में काफी सुयोग और त्वरा प्रदान की। इस सन्दर्भ में यह भी स्मरणीय है कि डॉ. ग्रियर्सन ने जब यह कहा कि भक्ति-आन्दोलन बिजली की चमक के समान सारे भारत में फैल गया तब उसका आशय इतना मात्र ही लिया जाना चाहिए कि वह आन्दोलन इतनी अधिक त्वरा के साथ परिव्याप्त हुआ कि उसमें कुछ भी देर न लगी। "बिजली की चमक" का अभिप्राय यह कतई नहीं लिया जाना चाहिए कि किसी कारण देश, काल और परिस्थिति की अनुकूलता के बिना ही भक्ति-आन्दोलन–जैसे कार्य की उत्पत्ति अपने आप हो गयी, जैसा प्रायः अब तक समझा जाता आया है। इस प्रकार, तत्कालीन लोकचित्त की निराश वृत्ति ने भक्ति को शीघ्रातिशीघ्र व्यापक बनाने में बड़ी मदद की, विशेषतः उत्तर भारत में। कहने का तात्पर्य यही कि जनमानस की व्यग्र, व्याकुल और हतचित्तवृत्ति ने भक्ति-काव्य के व्यापक प्रचार-प्रसार में ही नहीं, उसकी सर्जना में भी अद्भुत योग दिया। इसे यों भी कह सकते हैं कि भक्ति अनेकांशतः तत्कालीन लोकमानस में व्याप्त विकल्पहीन विवश मनस्ताप की देन थी। प्रज्वलित घर से तब निकल भागने का एक ही रास्ता रह गया था— अलौकिक खिड़की के सहारे शरण्य स्थल तक पहुँचना। ऊपर से देखने में तो भक्त-पुंगवों की ये प्रभु-प्रार्थनाएँ—

क— **'प्रभु हौं सब पतितन को टीको',**

ख— **'मो सम कौन कुटिल खल कामी', और**

ग— **'हौं प्रसिद्ध पातकी'**

आदि उनकी आत्मद्रव-सी प्रतीत होती हैं, परन्तु, इनके मूल में तत्कालीन व्यग्र और हताश मनोवृत्ति के संचित रूप की झलक अवश्य मिल जाती है। जब यह प्रवृत्ति और गहराती है तो व्यक्ति अपने को पतित, पातकी, कुटिल, खल आदि मानने लगता है। इसलिए, कहा जा सकता है कि किसी समय की साहित्य-सर्जना अपने काल कारा (प्रभाव) की देन होती है।

भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तन के कारणों के विषय में अनेक मत हैं। कुछ विद्वान् उसे विदेशी धर्मों के सम्पर्क का परिणाम, कुछ तत्कालीन परिस्थितियों की देन और कुछ उसे लोक संस्कृति का शास्त्र संस्कृति के साथ समन्वय का सुफल मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ही नहीं, मैक्निकल, कार्पेंटर आदि मनीषियों ने भक्ति के प्रचार-प्रसार के कारणरूप में तत्कालीन परिस्थितियों की भूमिका को ही प्रधान माना है। आचार्य शुक्ल का अभिमत है कि भारतीय चेतना मुसलमान शासकों की गलत राजनीतिक गतिविधियों से पददलित होकर अन्तर्मुखी हो गयी थी। इस कारण, उस समय की जनचेतना ऐहिक सुखों से विमुख हो शत्रु से लोहा न ले पाने के बदले ईश्वराधन की ओर उन्मुख हो गयी थी। मुझे भी यही मत सारवान् प्रतीत होता है।

अन्य विद्वानों में पं. बलदेव उपाध्याय, डॉ. विजयेन्द्र स्नातक आदि भी इसी मत का समर्थन करते हैं। यही नहीं, स्वयं आचार्य वल्लभ ने भी ऐसा ही माना है, जिसका उल्लेख आगामी पैराग्राफ में किया जा रहा है।

सूरकालीन जन-मानस में भूत-पिशाचों के प्रति अन्धविश्वास और अन्धश्रद्धा का भाव व्याप्त था। नर-बलि और पशु-बलि की प्रथा अब भी प्रचलित थी। सूर के समकालीन तुलसी को, इसीलिए, लिखना पड़ा था :

**लही आँखि 'कब आँधरे बाँझ पूत कब पाय।**
**कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय।।**[1]

राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि अनेक दृष्टियों से तत्कालीन सर्वसाधारण का जीवन पतनप्राय हो रहा था। समाज का एक वर्ग जहाँ निर्गुण-भक्ति-भाव का हामी और प्रचारक था वहाँ दूसरा सगुण-भक्ति को अपना एकमात्र उद्धारक मत मानता रहा। इन बातों के प्रमाण सामयिक साहित्य के उल्लेखों से दिए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए वल्लभाचार्य के श्रीकृष्णाश्रय स्तोत्र के इन कतिपय श्लोकों को देखा जा सकता है :

**म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।**
**सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम।।**
**गंगादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।**
**तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम।।**
**अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु।**
**तिरोहितार्थवेदेषु कृष्ण एव गतिर्मम।।**[2]

अर्थात् देश म्लेच्छों से आक्रांत है। इसलिए, यह देश पापागार बन गया है। साधुजन दुःख-दग्ध हैं। गंगादि पावन तीर्थस्थल भी दुष्टों से घिर गए हैं। इस कारण, उनके अधिष्ठातृदेव तिरोहित हो गए हैं और स्वार्थ तथा लोभ में आकर साधु जन भी पापाचारी हो उठे हैं। अशिक्षा और अज्ञान की गहरी व्याप्ति होने से वैदिक तथा अन्य तरह के मन्त्र का महत्त्व विनष्ट होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में मात्र कृष्ण ही मेरी गति हैं।

कहना न होगा कि यह तत्कालीन सामाजिक असन्तोष की भावना ही थी, जिसे धार्मिक क्षेत्र में कलि-सिद्धान्त नाम दिया गया। वास्तव में, मध्यकाल का आगमन ही ऐसे निराश और अवसादजनक पर्यावरण में हुआ, जिसके मूल में वर्तमान के प्रति तीव्र असन्तोष विद्यमान था। मेरी दृष्टि में, इस अवसादक स्थिति के मात्र दो कारण थे— विदेशियों द्वारा गुप्त साम्राज्य का विध्वंस तथा वैदिक प्रवृत्तियों के साथ आगमिक और तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रसार एवं प्रभाव। कवि शिरोमणि तुलसीदास ने इसी कलि-

1. दोहावली, दो 493
2. श्रीकृष्णाश्रय स्तोत्र, श्लोक 2,3,5

सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए "विनयपत्रिका" की अधोलिखित पंक्तियों में उक्त बातों का समर्थन किया है :

**काल कलिजनित मलमलिन मन सर्व नर**
**मोह-निसि निबिड़ जमनांधकारं।**
**विष्णु जस पुत्र कलकी दिवाकर उदित**
**दास तुलसी हरन बिपतिभारं।।**[1]

अर्थात् सारा मनुष्य-समाज इस कलिकाल में मनः ताप से मलिन हो रहा है। आप इस अविद्या की रात्रि में म्लेच्छरूप सघन अंधकार का नाश करने हेतु सूर्योदय के समान विष्णुयश संज्ञक ब्राह्मण के यहाँ पुत्ररूप में कल्कि-अवतार धारण करेंगे। हे नाथ! आप तुलसीदास की विपत्ति का हरणकर उसका उद्धार करने की अनुकंपा करें।

इस प्रकार, जन-जीवन की ऐसी अधोगति को देखकर लोकाराधक वल्लभाचार्य ने अपने नाम से एक ऐसे सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसका उद्देश्य लोकनायक लीलापुरुषोत्तम कृष्ण की मधुर लीलाओं के गान द्वारा समग्र लोक-चित्त को अनुरंजित करना था। कहना न होगा कि महाप्रभु के इस प्रयास में तत्कालीन परिस्थितियों ने भी पर्याप्त योग दिया। आचार्य वल्लभ ने जिस पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन किया उसके अनुयायी अनेक भक्त कवियों ने विलक्षण काव्य-रचना कर कृष्ण के मधुर और लोकरंजक स्वरूप को संसार के सामने रँखा। पुष्टिमार्गीय भक्त कवियों में प्रमुख थे, अष्टछाप के कवि, जिनके मधुर और प्रभावपूर्ण काव्य का आस्वादन कर लोक-मानस भक्ति-भाव में निमग्न होने लगा। काव्य-गरिमा की दृष्टि से, इनमें सूर के भक्ति-कीर्तन की वाणी सर्वोपरि और सर्वोच्च थी।

सूर ने अपने विनय के अधिकांश पदों में अपने समकालीन लोक-चित्त में पाये जाने वाले अच्छे-बुरे विचारों का उल्लेख आत्मकथ्यरूप में किया है। उदाहरण के लिए उनका एक ऐसा ही अधोलिखित पद द्रष्टव्य है, जिसमें उन्होंने अपने को माया के हाथ बिका हुआ, परवश, मद, ममता और हिंसा-सागर में आकण्ठ निमग्न तथा अज्ञान के अँधेरे में प्रभु को भुला देने की बात की है :

**अब हौं माया-हाथ बिकानौ।**
**परबस भयौ पसू ज्यौं रजु-बस, भज्यौ न श्रीपति रानौ।।**
**हिंसा-मद-ममता-रस भूल्यौ, आसा ही लपटानौ।**
**याही करत अधीन भयौ हौं, निद्रा अति न अघानौ।।**
**अपने ही अज्ञान-तिमिर मैं, बिसर्‌यौ परम ठिकानौ।**
**सूरदास की एक आँखि है, ताहू मैं कछु कानौ।।**

यहाँ यह विशेषतः ध्यातव्य है कि चूँकि विशुद्ध भक्तिलीन कवि का हृदय लोक-हृदय से अद्वय और अनन्यभाव से संयुक्त होता है, इसलिए, ऐसे सभी कवि अपने

1. विनयपत्रिका, छंद 52

आराध्य से आत्मकथनों के माध्यम से अपनी ही नहीं, समग्र लोक-पीड़ाओं और दुःखों से उद्धार और मुक्ति की प्रार्थना करते हैं। सही मानी में उनकी वाणी लोक-वाणी की ही प्रतिरूप होती है। भारतीय भक्ति-साधना की सर्वोपरि पहचान लोक-हित ही रहा है। तत्कालीन समाज की प्रत्येक गतिविधि कर्मकाण्ड के अन्धे कूप का शिकार हो रही थी और उसमें सर्वत्र अत्यन्त प्रबल तथा अगाध मोह का सागर उमड़ रहा था :

**पग पग परत कर्म-तम-कूपहिं को करि कृपा बचावै।**

**............................................................**

**प्रबल अपार मोह-निधि दस दिसि सु धौं कहा करई।**[1]

धर्म के कुमार्गी ठेकेदार मठाधीशों की स्थिति यह थी कि वे हरि-स्मरण के बजाय पर-निन्दाकर जीभ का स्वाद ले रहे थे। वे बड़ी रुचि से तेल लगाते और शरीर की मालिश कराते, अपने वस्त्रों को अतिरिक्त रुचि से मल-मलकर धोते, टीका लगाकर स्वामी (मालिक, मुखिया) बनकर चलते और विषय-विकारों की बराबर तलाश में रहते :

**किते दिन हरि-सुमिरन बिनु खोए।**
**पर-निंदा रसना के रस करि, केतिक जनम बिगोए।।**
**तेल लगाइ कियो रुचिं मर्दन, बस्तर मलि मलि धोए।**
**तिलक लगाइ चले स्वामी ह्वै, बिषयिनि के मुख जोए।।**

सूर का समयवर्ती समाज यौवन-मद, जन-मद, मादक-मद, धन-मद आदि में आकण्ठ निमग्न था। नर-नारी दोनों काम-विवश हो आलिंगन, चुंबन, परिरम्भण तथा नख-क्षत-जैसी श्रृंगारी क्रियाओं में डूबे रहते थे :

**यौवन-मद जन-मद मादक-मद धन-मद विष-मद भारी।**
**काम-बिबस नर-नारि भजत दुइ पंच सरहिं फिरि मारी।।**

**............................................................**

**आलिंगन चुंबन परिरंभन नख छत चारु परस्पर हाँसी।**

कहना न होगा कि श्रृंगारिकता पूरे मध्यकालीन हिन्दी-काव्य की एक विलक्षण विशेषता रही है। अश्लीलता की अभिव्यक्ति भी उसमें कम नहीं हुई है। इसलिए, मात्र ऐहिकतापरक रचनाओं में ही नहीं, उस काल की भक्तिमूलक कृतियों में भी श्रृंगारभावों की अच्छी झलक मिलती है। यही नहीं, उस काल की स्थापत्य और मूर्तिकलाओं में भी उसकी प्रतिच्छाया देखी जा सकती है।

सूरकालीन मुगल-शासन में ऐसी शांति और सुव्यवस्था थी कि देश के आन्तरिक व्यापार की दिन-ब-दिन उन्नति हो रही थी। विभिन्न प्रदेशों के लोग एक-दूसरे के सम्पर्क में प्रायः व्यापार और तीर्थ-यात्रा आदि के माध्यम से आते रहे। अकबर महान् की शासन-व्यवस्था अन्य अनेक शासन-व्यवस्थाओं की तुलना में विशिष्ट थी। इस

1. सूरसागर पूर्वार्द्ध, पद, 48

सम्बन्ध में मुगल-शासन के प्रख्यात विद्वान् डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है—"राजपूतों को अकबर ने वचन दिया कि यदि वे उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लें, साम्राज्य को निश्चित सैनिक सहायता के रूप में उपहार दें, बिना सम्राट् की आज्ञा के आपस में न लड़ें और सम्राट् की आज्ञा लेकर राजगद्दी पर बैठें तो उनके धर्म, राज्य-शासन-विधान, सामाजिक जीवन आदि में हस्तक्षेप न करेगा"[1]। इतना ही नहीं, अकबर ने अपनी उदार नीति के कारण युद्ध-बन्दियों को गुलाम बनाने की प्रथा, यात्रियों से तीर्थ-कर लेना और हिन्दुओं से जिज़िया लेना गैर-कानूनी करार दिया। राजपूताने के अनेक राज्यों ने उसकी ये शर्तें मानकर तथा सम्राट् और राजकुमार को अपने घराने की लड़कियाँ देकर उससे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये। देश में प्रचलित शासन में अनेक प्रकार के सुधार किये गये। देश के प्रमुख धर्मों का आलोड़न इसलिए किया गया ताकि समाज में सुधार लाया जा सके और निष्पक्ष तथा उदार धार्मिक नीति संघटित की जा सके। विविध धर्मों के विद्वानों को "इबादतखाना" में एकत्र कर अकबर उनसे शास्त्रार्थ कराकर सुनता था। उसने यथासम्भव सभी धर्मों को सहायता और सहानुभूति दी।

अकबर की धार्मिक प्रशासन-नीति भी ऐसी उदाराशयनी और सहिष्णु थी कि उससे जनसामान्य के बहुमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। उसने "दीन-इलाही" नाम की एक संस्था स्थापित की, जिसमें किसी भी मत के व्यक्ति को सदस्य बनाया जा सकता था। इसके मुख्य सिद्धान्त थे—ईश्वर में दृढ़ विश्वास, सम्राट की भक्ति, यथासम्भव हत्या या मांस-भोजन का परित्याग; स्त्री-सहवास में संयम तथा शुद्धता एवं समय-समय पर भोज और दान। इसके सदस्यों को सम्राट स्वयं दीक्षित करता था। इस विषय में प्रायः सभी इतिहासकारों की राय है कि अकबर ने इस संस्था का सदस्य बनाने के लिए बल-प्रयोग, लोभ, आग्रह, पदोन्नति-जैसे अनुचित साधनों का इस्तेमाल कभी नहीं किया।

इतना ही नहीं, हिन्दू और मुसलमान दोनों एक-दूसरे के धर्म, इतिहास और संस्कृति को समझ सकें, इसके लिए अकबर ने अरबी तथा संस्कृत ग्रन्थों, जैसे, कुरान मजमउलबल्दान, भगवद्गीता, महाभारत, अथर्ववेद आदि के सरल फारसी में अनुवाद कराये। हिन्दी को उच्च आसन देने के लिए उसने "कविराज" का पद दरबार में प्रचलित किया। उसने विवाह की अवस्था अनिवार्यतः लड़कियों की चौदह और लड़कों की सोलह वर्ष कर दी। ज़बरदस्ती या डर से होनेवाली सती-प्रथा को निषिद्ध कर विधवा-विवाह को कानूनन वैध घोषित कर दिया।

इस प्रकार, हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक सम्पर्क से भारतीय संस्कृति और सभ्यता का एक ऐसा समन्वित रूप सामने आया, जिसमें न तो पहले—जैसा जाति-पाँति का भेद-भाव था, न संकीर्ण मनोवृत्ति, न बाह्याचारी और कर्मकाण्डी पुरोहितों का प्रभुत्व और न तरह-तरह की देवी-देवताओं की उपासना-आराधना का

---

1. हिन्दी विश्वकोश— पृ.62-63, प्रथम खण्ड

विधान ही था। इस नये समन्वित धर्म के विधान में एकेश्वरवाद, प्रेम, सदाचार, आत्मशुद्धि, विश्वबन्धुत्व आदि पर विशेष बल दिया गया था। इस संसर्ग का प्रभाव ललित कलाओं पर भी पड़ा, जिसके फलस्वरूप स्थापत्य कला का सर्वोपरि नमूना "ताजमहल" और फतेहपुर सीकरी का बुलन्द दरवाजा तथा मोती मस्ज़िद आदि इमारतें सामने आईं।

कहना न होगा कि भक्ति और धर्म के विकास को देखते हुए सोलहवीं शती का खास महत्त्व है। सूरकालीन ब्रजभूमि में कृष्णभक्ति का बोलबाला था। कृष्णभक्ति का पुण्य प्रवाह निम्बार्क, गौड़ीय, राधावल्लभीय, पुष्टिमार्गीय, सखी आदि अनेक सम्प्रदायों के रूप में ब्रज को ही नहीं, समग्र उत्तर भारत को रस-सिक्त कर रहा था। उधर तुलसी के राम की "जग-मंगल-करनी" तथा "कलि-मल-हरनी" दास्यभाव की कथा का अजस्त्र प्रवाह था और इधर उसी के समानान्तर लीलानायक और लोकरंजक कृष्ण की प्रेम-लक्षणा सख्य भाव की भक्ति की प्रबल धारा बह रही थी।

उस समय ब्रजभूमि में अनेक भक्ति-सम्प्रदायों ने अपनी जड़ें जमा ली थीं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सगुण भावना की भक्ति को अकबर की शान्ति और सहिष्णु प्रशासन-नीति से बड़ी मदद मिली और इस दृष्टि से ब्रज की पुण्य भूमि का महत्त्व बहुत बढ़ गया। बहुत से सन्त, महात्मा, आचार्य ब्रज में आकर रहने लगे और वे अकबर से पूर्व के मुसलमान बादशाहों के कुशासन से पीड़ित जनसामान्य में आशा, उत्साह, नवस्फूर्ति का मन्त्र फूँककर उन्हें नवजीवन प्रदान कर रहे थे। ऐसे महात्माओं और सन्तों में चैतन्य महाप्रभु, रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, हित हरिवंश आदि ने वृन्दावन के पुनरुत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। लेकिन, ऐसे लोगों में जिनका योगदान सबसे बढ़कर था, उनमें महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ के नाम प्रधानतः उल्लेख्य हैं। इन्होंने वृन्दावन, गोकुल और मथुरा को विशेष प्रतिष्ठा दी। लीला-विहारी भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्य भाव की भक्ति और लोक-संग्रह से अनुप्रेरित होकर अष्टछाप के कवियों—सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, नन्ददास और चतुर्भुजदास—ने अपनी रमणीय काव्य-रचनाओं की जो लोकपावनी धारा प्रवाहित की उससे मुरझाया जनमानस फिर से प्रफुल्ल हो उठा। अष्टछाप के महान् कवियों ने, जिनमें सूर का स्थान सिरमौर है, एक युग का प्रवर्तन किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस धारा के कवियों के प्रदेय का आकलन करते हुए यह ठीक ही लिखा है कि "मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी"[1]।

1. सूरदास, पृ. 150

# जीवन-यात्रा

सूर की जीवन-यात्रा पर कुछ विमर्श करने से पूर्व मैं प्रारम्भ में ही यह कहना चाहता हूँ कि एकमात्र 'सूरसागर' –जैसे महिष्ठ काव्य-ग्रन्थ के प्रणेता और अष्टछाप के शिरोमणि कृष्णभक्त महाकवि सूरदास ने अपनी रचनाओं में सांसारिक जीवन के बारे में बहुत कम कहा है। कतिपय पदों में अपने अंधे होने की चर्चा मात्र की है।

हिन्दी के इस महान् कवि की जागतिक जीवन की जानकारी के लिए उसके अधीतविद्य मनीषियों द्वारा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर अब तक विविध और बहुरंगी प्रयास किये गये हैं। आरम्भिक दौर के अनेक सुधी समीक्षकों द्वारा सूर को 'सूरसागर' के साथ 'साहित्यलहरी' और 'सूरसारावली' का भी रचयिता मान लिए जाने के नाते उस (कवि) के व्यक्तित्व और कृतित्व से सम्बद्ध कई तरह की विषम और विसंगत अवधारणाएँ सामने आती रहीं, जैसे, वे सारस्वत ब्राह्मण हैं या चंदवरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट। किन्तु, काल-प्रवाह के साथ ज्यों-ज्यों कवि के काव्य का अनुशीलन आगे-आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों ऐसी बेमेल मान्यताओं का कुहासा छँटता गया, जिनका निर्देश आगे आनेवाले प्रकरणों में यथास्थान किया जायेगा। किन्तु, यहाँ यह कहने में संकोच नहीं कि सूर के अधिकांश विदग्ध विद्वानों ने उनके काव्यानुशीलन को आज वहाँ तक पहुँचा दिया है जहाँ उनके कारण-कार्य-भाव की तटस्थ समीक्षित स्थिति को देखते हुए इस बात की स्पष्ट प्रतीति होती है कि अष्टछाप के महाकवि सूरदास की अकेली प्रामाणिक रचना 'सूरसागर' ही है और शेष अन्य दो रचनाएँ–'साहित्यलहरी' तथा 'सूरसारावली'–जो प्रारम्भ से उनके नाम चढ़ी चली आ रही थीं, उनकी नहीं, किसी इतर सूरदास की कृतियाँ हैं।

यही नहीं, यहाँ इतना और कहना जरूरी जान पड़ता है कि अब तक हम जिस 'सूरसागर' को अष्टछापी महाकवि का एकमात्र कृतित्व मानते आए हैं, उसके भी दो प्रकार–लीलापरक और स्कंधपरक–के संस्करणों को देखकर सुधी आलोचकों को इसका स्पष्ट अवबोध हुआ है कि हमारे असली (अष्टछापी) सूरदास का सरोकार मात्र उसके लीलापरक स्वरूप तक ही सीमित है और उसके स्कंधपरक संस्करण का वास्ता किसी अन्य काफी बाद के सूरदास से है। शुरू से ही सूर के प्रायः सभी समीक्षक 'सूरसागर' की इस दोहरी शैली की भिन्नता का एहसास करते हुए अपनी आशंका प्रकट करते आ रहे थे कि उसके इन दोनों रूपों का रचनाकार कोई एक ही व्यक्ति नहीं है। लेकिन, आज तक 'सूरसागर' का कोई ऐसा सर्वशुद्ध सुसंपादित संस्करण सामने नहीं आया, जिसमें मात्र अष्टछाप के महाकवि सूरदास की ही रचनाएँ हों, इतर सूरदासों की नहीं।

प्रारम्भ में ही जैसा कहा जा चुका है कि अष्टछाप के महाकवि सूर ने अपनी एकमात्र रचना 'सूरसागर' में ऐसा कुछ भी नहीं कहा है, जिससे उनके जीवन की

ज्ञातव्य बातों का थोड़ा भी बोध हो सके। इसलिए, ऐसी दशा में, हमें इस कवि के जीवन-विधान के लिए पूर्णतः वल्लभसंप्रदायी 'वार्त्ता-साहित्त्य' और उसकी मान्य सांप्रदायिक परंपराओं पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अपने अंधे होने की जो प्रसंगवशात् चर्चा कवि ने 'सूरसागर' के कतिपय पदों में की है, उसका महत्त्व अत्यल्प है। इसलिए, वार्त्ताओं की वह सारी उपस्कारक सामग्री, जो कवि के जीवन की पहचान कराती है, बहिरंग साक्ष्य का अंग मानी जायेगी।

यद्यपि 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन बैष्णवन की वार्त्ता' नामक दो तरह की वार्त्तायें पायी जाती हैं तथापि सूर के जीवन-विधान की दृष्टि से उनमें प्रथम प्रकार की वार्त्ता का महत्त्व इसलिए अधिक है, क्योंकि उसी के अंतर्गत 'सूरदास की वार्त्ता' और उस पर की गयी गोस्वामी हरिराय की 'भावप्रकाश' नाम की ऐसी पूरक टिप्पणियाँ पायी जाती हैं, जिनसे कवि के जीवन-प्रासाद के निर्माण में सर्वाधिक सहायता मिलती है। कहना न होगा कि 'वार्त्ता-साहित्य' पुष्टिमार्गीय भक्तिधारा का तत्क़ालीन व्यावहारिक ब्रजी में ढला एक ऐसा गद्य-रूप है, जिसमें उक्त भाव-चेतना के तमाम वैष्णव भक्तों के विविध स्फुट और असम्बद्ध जीवन के लघु-लघु प्रसंगों का वर्णन किया गया है। एक-एक भक्त के जीवन में घटित कई-कई घटनाओं के उल्लेख भी इन वार्त्ताओं में मिलते हैं। ऐसी सारी वार्त्ताओं के लेखन का श्रेय गोसाईं गोकुलनाथ को दिया जाता है। हाँ, इस संदर्भ की एक बात यह भी कि इन वार्त्ताओं के वस्तुतत्त्व को देखते हुए इन्हें अनुश्रुतियाँ भी माना जाता है, किन्तु, मेरे विचार से, इनमें और जनश्रुतियों में अन्तर यही है कि जहाँ ये लिखित रूप में मिलती हैं वहाँ वे जन-मानस का अंग होने के नाते मात्र मौखिक होती हैं। इसलिए, वार्त्ताएँ अपरिवर्तनीय मानी जा सकती हैं और किंवदंतियाँ परिवर्तनीय। इस तरह, वार्त्ताएँ अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय मानी जा सकती हैं। अब उक्त सामग्री के आलोक में सूर-जीवन के विविध पड़ावों की स्थितियाँ इस तरह देखी जा सकती हैं :

## उद्भव-काल

सूर के आरम्भिक दौर के अधिकांश साहित्येतिहासकार और समीक्षक जहाँ उन्हें 'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' जैसी तीन काव्यकृतियों का रचयिता मानकर उनका उद्भव-काल सं० 1540 वि० मानते रहे, जिनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्थान सर्वोपरि है, वहाँ अब, सूर के जन्म-काल सं. 1540 वि० की धारणा प्रायः अमान्य और अप्रामाणिक घोषित कर दी गयी है।

सूर तथा अन्य अष्टछाप कवियों के मर्मज्ञ मनीषी डॉ० दीनदयालु गुप्त ने अपने प्रख्यात ग्रंथ 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' में यह माना है कि सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य से अवस्था में दस दिन छोटे थे। आचार्य वल्लभ की जन्म-तिथि सं० 1535 वि० की वैशाख, रविवार, कृष्ण 11, मानी जाती है। इसके आधार पर सूर का जन्मोत्सव श्रीनाथद्वारा में आचार्य वल्लभ के जन्म-दिन, वैशाख, कृष्ण 11, के पश्चात्

वैशाख सुदी (शुक्ल) 5 को मनाया जाता है। इस तरह, सूर की उद्भव-तिथि सं0 1535 वि0 वैशाख सुदी 5,मंगलवार, निश्चित होती है।

इतना ही नहीं, इस आशय के अनेक और प्रमाण मिले हैं। 'भावसंग्रह' (सं0 1800) के लेखक पंचम गृह के द्वारकेश जी ने लिखा है:–

**"सो सूरदास जी श्री आचार्य महाप्रभुन तें दस दिन छोटे हते।"**

इस दृष्टि से भी सूर की उक्त जन्म-तिथि की पुष्टि होती है।

इसके अतिरिक्त, श्री गोपिकालंकार गटटू 'रसिकदास', जो आचार्य वल्लभ कुलोत्पन्न थे, अपने एक पद में सूरदास की उक्त जन्म-तिथि का उल्लेख यों करते हैं:

**प्रगटे भक्त सिरोमनि राय।**
**माधव सुक्ल पंचमी ऊपर छटठ अधिक सुखदाय।।**
**संबत पंद्रहा पैंतिस वर्षे, कृष्ण-सखा प्रगटाय।**
**'रसिकदास' मन आस पूरण हवै, सूरदास भुव आय।।**

## उद्भव-स्थल

जब 'साहित्यलहरी' सूर की रचना मानी जाती थी तब उनके जन्म-स्थल के विषय में विवाद था, किन्तु, अपनी एकमात्र रचना 'सूरसागर' के महिष्ठ धनी सूर के उद्भव-स्थल के बारे में अब कोई विवाद नहीं रह गया है।

'भावप्रकाश' नामक अपनी रचना में गोस्वामी हरिराय ने सूर का जन्म-स्थल दिल्ली से चार कोस की दूरी पर वर्तमान हरियाना में स्थित 'सीही' नामक ग्राम को माना है। प्राचीन साहित्य में यह गाँव अनेक नामों से जाना जाता है–'गामका', 'शेरगढ़', 'सीहोरा' आदि। परीक्षित-पुत्र जनमेजय ने इसी गाँव में ही सर्पयज्ञ किया था। दिल्ली-मथुरा राजमार्ग पर बल्लभगढ़ के समीप यह गाँव अवस्थित है। इस गाँव के निवासियों में इस मान्यता की रूढ़ि बराबर चली आ रही है कि सूर का जन्म उसी ग्राम में हुआ था। सूर-जन्म की भाँति सर्पयज्ञ होने की किंवदंती भी यहाँ प्रचलित है। वृंदावन-वासी और गोसाईं गोकुलनाथ के समसामयिक कविवर प्राणनाथ ने अपने 'अष्टसखामृत में सीही को सूर का जन्म-स्थल मानते हुए लिखा है :

**श्री वल्लभ प्रभु लाडिले, सीही-सर जलजात।**
**सारसुती-दुजतरु-सुफल, सूर भगत विख्यात।।**

इस प्रकार, 'सीही' सूर का जन्म-स्थल निश्चित होता है। कुछ लोग दिल्ली और सीही की वर्तमान दूरी को लेकर जो सवाल उठाते हैं उसमें कोई विशेष दम इसलिए नहीं रह जाता है, क्योंकि दिल्ली के निकटस्थ निवासियों की दशा कई बार उसके उजड़ने और बसने से प्रभावित अवश्य हुई होगी।

## वर्ण

सूरदास किस वर्ण (जाति) के व्यक्ति थे, इस प्रश्न को लेकर उनके आरम्भिक आलोचकों में पर्याप्त मतभेद था। इस विवाद का कारण 'साहित्यलहरी' का वह 118 वाँ पद था, जिसमें उसके कवि ने अपने को चंदवरदाई का वंशज ब्रह्म-भट्ट बताया था। इसी के आधार पर डॉ0 ग्रियर्सन, नगेन्द्रनाथ वसु, हरप्रसाद शास्त्री, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि विद्वानों ने भी सूरदास को ब्रह्म-भट्ट माना था। किन्तु, बाद में 'साहित्यलहरी' को सूर की रचना माननेवाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-जैसे अनेक विद्वान् भी उसके उक्त 118वें पद को प्रक्षिप्त मानने लगे। इसके अतिरिक्त, दूसरी ओर, सूर को आचार्य वल्लभ की साम्प्रदायिक परम्परा में सारस्वत ब्राह्मण माना गया है। डॉ0 मुंशीराम शर्मा ने इस विवाद को समन्वयात्मक रूप में प्रस्तुत करते हुए शायद साभिलाष[1] यह माना कि 'ब्रह्म-भट्ट' भी ब्राह्मण ही होते हैं और वे चूँकि प्रशस्ति-गायक भी होते आये हैं, इसलिए, उन्हें सरस्वती-पुत्र सारस्वत भी माना जाता है। लेकिन, डॉ0 शर्मा की यह बात किसी के गले उतरी नहीं। 'साहित्यलहरी' का रचयिता मात्र ब्रह्म-भट्ट होकर जहाँ का तहाँ धरा रह गया।

सही बात तो यह है कि गोस्वामी हरिराय, गो0 विट्ठलनाथ और गो0 गोकुलनाथ के समसामयिक कविवर प्राणनाथ ने सूरदास को एक स्वर से सारस्वत ब्राह्मण ही घोषित किया है। और गोस्वामी यदुनाथ ने तो अपनी संस्कृत रचना 'वल्लभदिग्विजय' में यहाँ तक लिखा है कि अरइल (प्रयाग का गंगा-यमुना का संगम-स्थल) से ब्रज की यात्रा करते समय वल्लभाचार्य ने सारस्वत सूर को अनुगृहीत किया था:-

**"ततोऽलर्कपुरे समागतः। ततो व्रज समागमने सारस्वत सूरदासोऽनुगृंहीतः।"**

इसलिए, यह निर्विवाद हो जाता है कि सूर का जन्म एक सारस्वत ब्राह्मण कुटुम्ब में हुआ था। सरस्वती सरिता से सम्बद्ध होने से उन्हें सारस्वत कहा जाता है। यद्यपि मूलनिवास-स्थल की दृष्टि से ये पंजाबी होते हैं तथापि आज दिल्ली के सन्निकट सारस्वत ब्राह्मणों की जो घनी बस्ती पाई जाती है उसे देखते हुए सूर के सारस्वत ब्राह्मण होने की बात में और मजबूती आ जाती है।

महाकवि सूर के मर्मज्ञ मनीषी डॉ0 ब्रजेश्वर वर्मा ने इस कवि के ब्राह्मण होने में इस बूते आशंका प्रकट की है कि 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' में सूर की जाति का उल्लेख नहीं किया गया है[2]। इस सम्बन्ध में सूर-काव्य के अधीत विद्वान् डॉ0 रमाशंकर तिवारी का यह अनुमान हमें संगत प्रतीत होता है कि वार्त्ता के रचना-

1. डॉ0 मुंशीराम शर्मा स्वयं शायद ब्रह्मभट्ट थे
2. महाकवि सूर : एक पुनर्श्चितन, पृ0 34

काल तक आते-आते सूर ने अपने कवित्वमय कृष्णलीला-गायन से तत्कालीन भगवद्भक्तों के बीच इतनी अधिक प्रसिद्धि और लोकप्रियता पा ली होगी कि जिससे उनकी जाति विशेष का उल्लेख करना अपेक्षित नहीं रह गया होगा।

इसके अतिरिक्त, डॉ0 वर्मा ने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सूर जाति-पाँति के प्रति उदासीन व्यक्ति थे। किन्तु, ऐसा होने पर भी इसका अनिवार्य आशय यह कहाँ निकलता है कि सूरदास ब्राह्मण नहीं थे। सूर ने अपने एक पद में अपने आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति का प्रकाशन करते हुए लिखा है- "प्रभु ! तुम्हारी भक्ति-हेतु ही मैंने अपनी जाति का परित्यागकर दिया हैः-

**सूरदास प्रभु तुम्हरी भगति लगि, तजी जाति अपनी।**

कहना न होगा कि यह जाति वही ब्राह्मणत्त्व की ही है जिसके छोड़ने के परिताप का एहसास कवि को हो रहा है। ऐसे स्पष्ट और प्रत्यक्ष भीतरी (अंतः) प्रमाण को भी बाहरी (बाह्य) प्रमाण के लिये नकारने या आशंका प्रकट करने की जो बात डॉ0 वर्मा जी ने की है,[1] वह कैसे नहीं असंगत और अविश्वसनीय मानी जायेगी, यह सोचने की चीज़ है। तात्पर्य यही कि सूर सारस्वत ब्राह्मण थे, लेकिन, सर्वात्मना समर्पित होने के कारण उनकी जाति-पाँति ही नहीं, उनका अपना अब कुछ भी नहीं रहा था उनके पास।

## परिवार-परित्याग

सूर किस प्रकार के परिवार में पैदा हुए और उनके जीवन का शुरुआती दौर कैसा रहा तथा किस तरह वे घर-परिवार का परित्यागकर भक्ति की राजडगर की ओर बढ़े, इन बातों का जैसा विवरण गोस्वामी हरिराय ने दिया है, उन्हीं की उद्धरणी अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में इस प्रकार की जा रही है।

सूर के माता-पिता के नाम की सूचना नहीं मिलती। हाँ, वे जिस परिवार में पैदा हुए थे, वह निश्चय ही धनहीन और साधनहीन था। इसलिए, पूरे परिवार का जीवन क्रठिनाइयों से भरा था। सूर अपने तीन भाइयों में सबसे छोटे थे। अंधे सूर परिवार पर एक बोझ थे। उन्हें अंधा देख परिवारिक जन बड़े चिन्तित और खिन्न हुए थे। निर्धन घर में अंधे पुत्र की उत्पत्ति ने उन्हें और भी विचलितकर दिया था। अब कौन उसकी देखभाल करेगा और कौन उसे टिकाता फिरेगा ? ऐसी घोर उपेक्षा की स्थिति में पलते हुए शिशु (जन्म से लेकर आठ वर्ष तक की अवस्था) सूर ने वात्सल्य प्रेम के जिस बड़े अभाव की अनुभूति की उसने उन्हें गहरे छूकर वात्सल्य रस की ऐसी सरस धारा बहाने की प्रबल प्रेरणा दी कि अब तक संसार में उनका कोई और सानी कवि पैदा नहीं हुआ। यद्यपि ऐसा कहते हुए मुझे इस बात का भी कम एहंसास नहीं है कि गुरु

1. महाकवि सूर : एक पुनर्श्चिंतन, पृ0 34

द्वारा उपदिष्ट आराध्य कृष्ण के किशोरावस्था तक के रूप-स्वरूप ने भी ऐसा करने में कम सहयोग नहीं दिया है तथापि मेरे विचार से सूर की बचपन की इस मनोभूमि की भूमिका का महत्त्व सर्वाधिक है। इस प्रकार, परिवार में रहते सूर छः वर्ष के होकर यह एहसास करने लगे कि परिवार का कोई भी उन्हें चाहता नहीं है।

एक दिन सूर के पिता को किसी अत्यन्त सम्पन्न खत्री यजमान से दो मुहरें मिलीं। हर्ष और संतोष का अनुभव करते हुए पिता ने मुहरों को कपड़े में लपेटकर ताखा में रख दिया। चूहे रात में मुहरों की उस पोटली को छत पर उठा ले गये। सबेरा होने पर उनके पिता को वह पोटली अपनी जगह से गायब मिली। बेहद तकलीफ हुई। पूरे परिवार ने उस दिन भोजन न कर शोक मनाया। काफी दिनों से जो उपेक्षाभाव बालक सूर के मन में जमा हो रहा था उससे उत्प्रेरित हो उन्होंने कहा यदि मुझे घर छोड़ने की स्वीकृति दे दी जाये तो मैं उस पोटली का पता बता सकता हूँ। सहमत हो पूरे परिवार ने तदर्थ अनुमति दे दी। पोटली का ठिकाना बताते हुए बाल सूर ने कहा-- चूहों ने रात में उस पोटली को उठाकर छत के निकट की दीवालवाले बिल के मुँह पर रख दिया है। तब इधर पिता को वह पोटली आसानी से मिल गयी और उधर उसका छः वर्षीय पुत्र हमेशा के लिये घर से बाहर हो गया। कितना विलक्षण और विडम्बनीय है पुत्र के बदले पोटली का यह सौदा।

प्रज्ञा चक्षु बालक सूर अपने सीही गाँव से चार कोस की दूरी पर स्थित एक ऐसे दूसरे गाँव के सन्निकट आ गये जिसके बाहर एक सरोवर तथा उसी से लगे टीले पर एक पीपल का पेड़ था। बैठने के लिये पीपल की छाया मिली और पीने के लिए तालाब का पानी। इत्तिफ़ाक़ ऐसा कि उसी समय उस गाँव का वह ब्राह्मण जमींदार वहाँ आ गया, जिसकी गायें ग़ायब हो गयी थीं। उनकी खोज में वह वहाँ आया था। सगुनौती के धनी सूर ने उसकी गायों का पता बताते हुए कहा-- वह गाँव, जो यहाँ से कोसभर की दूरी पर स्थित है, उस गाँव के जमींदार के आदमी रात में तुम्हारी दस गायें खोल ले गये हैं। वे गायें जमींदार के घोड़ों के पीछे बँधी हुई हैं। वहाँ जाने पर उसे अपनी गायें मिल गयीं। कृतज्ञ हो उस ब्राह्मण जमींदार ने उनमें से दो गायें सूर को अर्पित करनी चाहीं, बालक सूर ने जिसे स्वीकार नहीं किया। सूर से अत्यन्त प्रभावित हो उस ब्राह्मण जमींदार ने उनके लिए उस पीपल-पेड़ के नीचे छपरिया डलवाकर उन्हें अपना आश्रय दिया। सूर की सगुनौती विद्या खूब फूलने-फलने लगी।

फिर तो सूर के शकुन-विचार का बाजार ऐसा गरम हुआ कि आये दिन तरह-तरह की वस्तुएँ उपहार में मिलने लगीं। सूर 'स्वामी' कहलाने लगे। उनके अनेक सेवक हो गये। सूर की उमड़ी कवित्व-शक्ति से पदों की रचना होने लगी। कथा-वार्त्ता और गायन-वादन का क्रम चलने लगा। इस प्रकार, सूर को वहाँ रहते 12 वर्ष हो गए। छः वर्ष के सूर वहाँ आये थे, इसलिए, अब तक उनकी अवस्था अट्ठारह वर्ष की हो चुकी थी। वहाँ रहते एक रात फिर सूर का चित्त भड़का। सुबह होने पर उन्होंने अपने माता-पिता को बुलाकर भेंट में मिली सारी वस्तुएँ उन्हें दे दीं और स्वयं पुनः नई जगह की खोज के लिए आगे बढ़ चले।

## रेणुकाक्षेत्र

सूर वहाँ से मथुरा पहुँचे। वहाँ यमुना के विश्रान्तघाट पर कुछ दिनों रहने के बाद उनका मन उस नगर की भीड़-भाड़ को देख फिर उचट गया। इसलिए, नयी जगह की तलाश फिर शुरू हुई। अब वे उस गऊघाट पर आकर रहने लगे, जो मथुरा और आगरा के मध्य स्थित 'रुनकता' के समीप यमुना–किनारे पर अवस्थित था।

अपनी पद-रचना, उसके गायन, कीर्तन तथा सगुनौती विद्या आदि के कारण सूर एक प्रख्यात महात्मा के रूप में माने जाने लगे थे। अब तक यहाँ रहते सूर ने बारह-तेरह वर्ष बिता दिये। 'रेणुकाक्षेत्र' को 'रुनकता' भी माना जाता है, जो सूर की साधना-स्थली रही।

सूर-विषयक वार्त्ताओं में दो अतिशय महत्त्व की मानी जाती हैं–इनमें पहली तो वही, जिसमें सूर और वल्लभाचार्य की भेंट की बात की गयी है और दूसरी वह, जिसमें सूर के निधन-काल की बातें बतायी गयी हैं।

## दीक्षा-ग्रहण

सूर जब गऊघाट पर निवास कर रहे थे, तभी महाप्रभु वल्लभाचार्य सं0 1567 वि0 में अरइल से व्रज की यात्रा करते समय वहाँ पधारे। सूर ने महाप्रभु का नाम तभी से सुन रखा था जब वे मथुरा के विश्रांतघाट पर थोड़े दिन ठहरे थे। महाप्रभु के गऊघाट पधारने पर किसी सूर-सेवक ने उनके आने की सूचना उन्हें दी। समयानुसार सूर ने महाप्रभु के दर्शन किये। सूर से मिलने के पहले महाप्रभु भी उनके नाम से परिचित थे। मिलने पर महाप्रभु ने सूर से कहा–'सूरदास कुछ भगवद्यश वर्णन करो।' सूर ने तब यह पद गायाः–

**प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ।**
**मरियत लाज सूर पतितन मैं मोहूँ तैं को नीकौ।।**

महाप्रभु के कहने पर एक और पद सूर ने सुनायाः-

**हरि हौं सब पतितन कौ नायक।**
**....लीजै बेगि निबेर तुरत ही सूर पतित को टाँड़ौ।।**

महाप्रभु को सूर का यह चरम दैन्यभाव रास नहीं आया। उन्होंने कहाः-"**सूर ह्वैकें ऐसों घिघियात काहे को है कछू भगवत-लीला वर्णन करि।**" फिर सूर ने इसके उत्तर में कहा-"**महाराज हों तो कछु समझत नाहीं।**"

इसके प्रत्युत्तर में महाप्रभु ने उन्हें स्नान करने को कहा। जब सूर यमुना में स्नानकर वापस आये तो उन्होंने सबसे पहले उन्हें 'नाम' सुनाया और फिर 'समर्पण' भी कराया। तत्पश्चात् श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध की अनुक्रमणी सुनाई। इसे सुनकर सूर का हृदय कृष्ण-लीला से ओत-प्रोत हो गया और तब सूर ने नंद-महोत्सव के विषय का यह पद उन्हें गाकर सुनाया :-

**ब्रज भयौ महरि कैं पूत, जब यह बात सुनी।**
**सुनि आनंदे सब लोक, गोकुल गनक गुनी।।**

इसे सुन महाप्रभु संतुष्ट हुए। फिर महाप्रभु ने उन्हें पुरुषोत्तम सहस्रनाम भी सुनाया। बाद में तो सूर के सभी सेवक-शिष्य महाप्रभु के चेले बन गये।

इसके बाद, महाप्रभु थोड़े दिनों तक गऊघाट पर रहे। फिर तो वे सूर को साथ ले गोकुल आ गये। सूर ने गोकुल का साक्षात्कार कर महाप्रभु को यह पद गाकर सुनायाः-**सोभित कर नवनीत लिए।**

## गोवर्धन-आना

महाप्रभु थोड़े दिनों तक गोकुल में टिकने के बाद सूर को साथ ले गोवर्धन आ गये। यहाँ आने पर महाप्रभु के मन में सूर के नियोजन की धारणा बनी और उन्हें उसी के अनुसार गोवर्धन पर्वत पर अवस्थित श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा में लगा दिया।

सूरदास गोवर्धन के आन्योर से पूर्व में स्थित परासौली चन्द्र सरोवर पर निवास करते थे और गोवर्धन के श्रीनाथ जी के कीर्तन में अपने जीवन के दिन गुजारने लगे। सूर यहाँ बहत्तर वर्षों तक रहे। इस दौरान सूर ने श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा, जो नित्य प्रातःकाल के जगाने से लेकर रात्रि शयन-काल तक चलती थी, को लेकर सहस्रों पदों की रचना की और उन्हें श्रीनाथ जी को सुनाये।

महाप्रभु वल्लभाचार्य सूर को 'सागर' नाम से पुकारते थे। सागर वही है, जिसमें सभी पदार्थ मिलें। सूर के पदों में सभी प्रकार के पदार्थ पाए जाते हैं। इस नाते सूर को 'सागर' भी कहा जाता है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य का गोलोकवास सं0 1587 वि0 में 52 वर्ष की अवस्था में हुआ। इसलिये, सूर उनके साहचर्य-सम्पर्क में पूरे 20 साल (सं0 1567-1587 वि0) रहे। इसके बाद सं0 1587 से 1599 वि0 अर्थात् 12 वर्षों तक लगातार वे महाप्रभु के ज्येष्ठ पुत्र गोसाईं गोपीनाथ जी के सम्पर्क में रहे। जब एकाएक गोसाईं गोपीनाथ जी का निधन हो गया तब उनके छोटे भाई गोसाईं विट्ठलनाथ जी वल्लभ सम्प्रदाय के उत्तराधिकारी अधिष्ठाता आचार्य हुए। उनके साथ भी सूर ने अपने जीवन के 40-41 वर्ष बिताये।

## अष्टछाप

गोसाईं विट्ठलनाथ ने सं0 1607 वि0 में अष्टछाप की संस्थापना की। यह वल्लभ-सम्प्रदायी या पुष्टिमार्गी आठ भक्त कवियों का एक ऐसा परिमण्डल था, जिसका निर्माण गो0 विट्ठलनाथ जी ने किया था। अष्टछाप की संरचना करते समय गो0 विट्ठलनाथ जी ने अपने पिता महाप्रभु वल्लभाचार्य के चार शिष्य कवियों-कुंभनदास, सूरदास, कृष्णदास अधिकारी और परमानन्ददास-और चार अपने निजी

सूरदास और अकबर का यह महामिलन, डॉ0 प्रभुदयाल मीतल के मुताबिक, सं0 1623-24 में मथुरा में हुआ था। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी उस समय द्वारकापुरी गये हुए थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधर जी श्रीनाथ जी को गोवर्धन से सतघरा मथुरा लाये। उस समय सूर मथुरा में बाईस दिनों तक ठहरे थे। इन्हीं दिनों सूर और अकबर का समागम हुआ था। किन्तु, इस महान् भेंट की चर्चा इतिहास में नहीं की गई है।

इस मिलन का असर यह हुआ कि अकबर ने उसके बाद सूर के पदों को संकलित कराने का प्रयास किया, जो फ़ारसी लिपि में लिखे गये थे।

सूरदास जीवनभर चन्द्रसरोवर के ही आवासी रहे। बीच-बीच में वे मथुरा और गोकुल भी हो आया करते थे।

## गोलोकवास

'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार सूरदास गोस्वामी विट्ठलनाथ के ब्रजवास-काल में जीवित थे। गोस्वामी जी ने सं0 1628 वि0 से गोकुल में स्थायीरूप से रहना शुरू कर दिया था।

सूरदास से मिलने के बाद अकबर ने सं0 1634 वि0 के एक शाही फरमान द्वारा गोस्वामी जी को गोकुल में निवास करने की आज्ञा दे दी थी। इतना ही नहीं, अकबर ने पुनः सं0 1638 के अपने एक दूसरे फ़रमान के माध्यम से उन्हें गायों को चराने के लिये भूमि भी दे दी थी। ये उल्लेख सूर के जीवित होने की प्रबल सम्भावना को सं0 1638 वि0 तक ले जाते हैं। इस संबंध में यह ध्यातव्य है कि सूर का गोलोकवास सं0 1642 के पूर्व निश्चय ही हो गया था, क्योंकि सं0 1642 वि0 में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी स्वयं गोलोकवासी हुए थे, जबकि सूर ने गोस्वामी जी के समक्ष अपनी लौकिक लीला समाप्त की थी।

सूर के देहान्त-काल के जो विवरण वार्त्ता से प्राप्त होते हैं, वे बड़े रोचक और मार्मिक हैं। इसलिए, उसके बारे में किंचित् व्यवस्थित जानकारी पाने की कोशिश की जाए।

श्रीनाथ जी की सेवा करते-करते जब बहुत दिन बीत गये तो एक दिन सूर को अन्तर्बोध हुआ कि आज उनका अन्त-काल आ गया है। बात यह है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी रोज श्रीनाथ जी का सिंगार करते और सूरदास रोज कीर्तन। उस दिन सूरदास कीर्तन करते न दिखे। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने यह देख एक शिष्य से पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि सूरदास आज मंगल आरती के दर्शन और सभी से हरिस्मरणकर चन्द्र सरोवर पधार गये। इससे गोस्वामी जी भी यह जान गये कि सूर का अवसान-काल आ गया है। गोस्वामी जी ने सभी भक्तों को आगाह करते हुए कहा **"पुष्टिमार्ग का जहाज" जा रहा है, जिसे जो लेना हो ले लो। राजभोग की आरती के बाद मैं भी आता हूँ।'**

लोग जब परासोली पहुँचे तो देखा कि सूरदास श्रीनाथ जी की ध्वजा की ओर मुँह किए एक चबूतरे पर अचेत से पड़े हैं। गोस्वामी जी के साथ कुंभनदास, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास आदि अनेक लोग परासोली पहुँचे। गोस्वामी जी ने सूर को सचेत करते हुए कहा- 'सूरदास' तुम्हारी चित्त-वृत्ति कहाँ है ? सूर ने इसके उत्तर में यह पद सुनाया-

**"बलि-बलि हौं कुमरि राधिका,**
**नन्द-सुवन जासौं रति मानी।"**

इस पद को सुनाकर सूर ने यह व्यंजितकर दिया कि उनकी चित्त-वृत्ति राधा-भाव से श्रीकृष्ण-भाव में तल्लीन है। इसके बाद गोस्वामी जी ने पुनः प्रश्न किया– **'सूरदास तुम्हारी नेत्र-वृत्ति कहाँ है ?'** तो पुनः उन्होंने गम्भीर राधा-भाव में निमग्न हो इस प्रसिद्ध पद का गान किया-

**"खंजन नैन रूप रस माते।**
**अतिसय चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।।"**

इस पद गायन के साथ ही सूर श्रीकृष्ण की नित्य-लीला में समाहित हो गये अर्थात् प्राण-पखेरू उड़ गये। सं0 1640 वि0 में गोस्वामी विट्ठलनाथ ने 'छप्पनभोग' की भावना की थी, जिसका वर्णन सूरसागर में 'ज्यौनार (जेवनार) रूप में हुआ है। इससे सं0 1640 वि0 तक सूर का जीवित रहना प्रमाणित होता है। 'सूर-निर्णय' के लेखक भी सं0 1640 वि0 को सूर का अवसान-काल मानते हैं। जैसा इसके पूर्व कहा जा चुका है, सूर का निधन गो0 विट्ठलनाथ के समक्ष हुआ और गोस्वामी जी स्वयं सं0 1642 वि0 में दिवंगत हुए, इसलिए, सूर के वैकुंठवास का समय सं0 1640-42 वि0 के बीच कभी भी माना जा सकता है।

## दृष्टि-विहीनता

सूरदास दृष्टि-विहीन या अंधे थे, इसे सभी विद्वान् निर्विवाद रूप से स्वीकारते हैं। 'सूरसागर' के अनेक पदों में कवि ने स्वयं को दृष्टि-हीन या अन्धा बताया है:-

(क) **'सूर' कहा कहै द्विविध आँधरौ बिना मोल कौ चेरौ।**

(ख) **'सूर' कूर आँधरौ, हौं द्वार पर्‌यौ गाऊँ।**

(ग) **'सूरदास' सौं कहा निहोरौ, नैननि हूँ की हानि।**

इस तरह के और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें कवि ने अपने को अंधा कहा है। आलोचकों में विवाद इसे लेकर है कि वे जन्मांध थे अथवा बाद में अन्धे हुए। जैसा उपर्युक्त 'सूरसागर' के कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि वे अन्धे तो थे किन्तु, जन्मान्ध भी थे, इसके उल्लेख नहीं मिलते हैं। यही नहीं, मूल वार्त्ता के प्रकरणों में भी सूर के जन्मान्ध होने की चर्चा कहीं नहीं की गयी है। केवल अकबर और सूरदास के भेंट-प्रसंग में उनके अन्धे होने का उल्लेख मिलता है।

सूर को जन्मान्ध मानने के रास्ते की सबसे बड़ी अड़चन यह है कि उन्होंने बाह्य प्रकृति का जैसा सूक्ष्म और यथार्थ चित्रण किया है वैसा कोई जन्मान्ध कवि नहीं कर सकता। महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा-ग्रहण करते समय सूर अंधे थे या नहीं, इस संबंध की भी कोई सूचना नहीं मिलती। श्री उदयशंकर शास्त्री ने लिखा है कि महाप्रभु और सूर के मिलन-प्रसंग के पहले किसी अन्धे के लिये 'सूर' या 'सूरदास' जैसे शब्द-प्रयोग अन्य ग्रंथो की कौन कहे, प्राचीन शब्द-कोशों तक में भी नहीं मिलते। इस कारण 'सूर' शब्द का किसी दृष्टिहीन व्यक्ति के लिये प्रचलन सूर और महाप्रभु के मिलन के बाद की वस्तु हैं। 'भावप्रकाश' के अनुसार सूर अंधे ही नहीं, 'सपाट' अंधे थे। नेत्रों के आकार तक नहीं थे, केवल भौहें थीं। वार्त्ता में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा गया है :-

**"जो जन्में पाछैं नेत्र जाँय तिनको आँधरौ कहियै,**
**सूर न कहियै और ये तो सूर हैं।"**

इसके अतिरिक्त, सूर जन्मान्ध थे, इसके लिए बहिस्साक्ष्य के कतिपय अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं, उनमें से कुछ को यों देखा जा सकता है:-

सूर के समकालीन आचार्य श्रीनाथ भट्ट उन्हें जन्मांध मानते हैं:

**"जन्मान्धो सूरदासोऽभूत।"**--'संस्कृतमणिमाला'

कवि प्राणनाथ :

**बाहर नैन बिहीन सो, भीतर नैन बिसाल।**
**जिन्हैं न जग कछु देखिबो, लखि हरिरूप निहाल।।** —'अष्टसखामृत'

'भक्तविनोद' में कवि मियाँ सिंह ने लिखा है :

**जनम अंध दृग ज्योति-बिहीना।**
**जननी-जनक कछु हरष न कीना।।"**

'रामरसिकावली' में रघुराज सिंह का कथन :

**"जनमत तें है नैन बिहीना।**
**दिव्य दृष्टि देखहिं सुख भीना।।**

यही नहीं, 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने सूर की जन्मांधता को प्रमाणित करने के लिये कतिपय अन्तःसाक्ष्यों को यों प्रस्तुत किया है :

(अ) **"सूर की बिरियाँ निठुर होइ बैठे, जनम अंध कर्‌यौ।"**
(आ) **"रहौ जात एक पतित जनम कौ, आँधरौ सूर सदा कौ।"**
(इ) **"करमहीन जनम कौ आँधौ, मोते कौन न कारौ।"**

कहा जाता है कि इन पदों की प्रामाणिकता संदिग्ध है, इसलिये, इनके आधार पर सूर को जन्मांध मानना असंदिग्ध नहीं ठहरता।

मिश्रबंधु, डॉ0 श्यामसुंदरदास, डॉ0 हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं0 नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ0 दीनदयालु गुप्त, डॉ0 ब्रजेश्वर वर्मा आदि विद्वान् सूर को जन्मांध नहीं मानते। इस पक्ष के सुधी विद्वानों का कहना है कि कोई जन्मांध कवि रंग, रूप, श्रृंगार, प्रकृति आदि के ऐसे रमणीय और ललित रेखांकन नहीं कर सकता। इसलिये, वे मानते हैं कि संसार के रूप, रस, गंध और सौन्दर्य आदि की घनिष्ठ चाक्षुष-प्रतीति के पश्चात् ही वे कभी अन्धे हुए होंगे। किन्तु, सूर बाद में अंधे हुए, ऐसा भी किसी प्रकार का प्रमाण नहीं मिलता। अतः यह कहा जा सकता है कि जैसे किसी साधक को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर दिव्य-दृष्टि मिल जाती है वैसे सूर भी महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् लोकातीत दृष्टि से ओतप्रोत हो गये होंगे।

सूर ही नहीं, भारत में और भी अनेक जन्मांध कवि हो गये हैं। 'जानकीहरण' के रचयिता कुमारदास और अलंकराचार्य मेधाविरुद्र भी जन्मांध ही थे, ऐसा राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में लिखा है। इन दोनों महाकवियों की समीक्षा करते हुए राजशेखर ने जो लिखा है, वह इस संदर्भ में विशेषतः ध्यातव्य है:

**"प्रतिभा, शब्द-समूह को, अर्थों के समुदाय को, अलंकारों एवं सुन्दर उक्तियों को तथा अन्यान्य काव्य-सामग्री को हृदय के भीतर प्रतिभासित कराती है। जिसे प्रतिभा नहीं है, उसके लिये प्रत्यक्ष दीखते हुए पदार्थ भी परोक्ष जैसे प्रतीत होते हैं और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अदृश्य पदार्थ भी प्रत्यक्ष से दीखते हैं[1]।**

नाभादास जी, स्वामी विरजानंद भी जन्मांध ही थे। आज भी कभी-कभी ऐसे व्यक्ति देखे जाते हैं, जो अपनी गतिविधियों से सुदृष्टि संपन्नों को पीछे छोड़ देते हैं। वे बाह्य प्रकृति को अपने भीतर के उन्मीलित और प्रोज्ज्वल नेत्रों से निरखते-परखते हैं। इसलिये, सूर को दिव्य दृष्टि सम्पन्न महाभागवत माना जाए, तो असंगति न होगी।

इस प्रकार, बहिस्साक्ष्य एवं जनश्रुतियों को देखते हुए, सूर जन्मांध ठहरते हैं। अंतःसाक्ष्य से वे अंधे तो ठहरते हैं, किन्तु, जन्मान्धत्व का एकदम पक्का प्रमाण नहीं मिलता।

इतना होने पर भी यह कहा जा सकता है कि सूर एक दिव्य-दृष्टिसम्पन्न ऐसे महामति महाकवि थे, जिन्हें ऐसी दृष्टि उनके गुरु वल्लभाचार्य से मिली थी। कहना न होगा कि सूर की सगुनौती विद्या या शकुन-विचार भी बीजरूप में उसी दिव्य प्रातिभ संस्कार का ही प्रदेय था।

1. काव्य-मीमांसा (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना) 1954 ई0, पृ0 26-27

# सर्जनाएँ

यों तो हिंदी के प्रारंभिक दौर के साहित्य के इतिहासकार, समीक्षक और अनुसंधान करनेवाले सूरदास को अनेकानेक कृतियों का कर्ता मानते रहे, किन्तु, जैसे-जैसे उक्त कवि के काव्य का अनुशीलन आगे बढ़ता गया वैसे-वैसे उसके कृतित्व से सम्बद्ध अनेक बातों की सच्चाई का उद्घाटन होता गया है। सूर के अधिकांश आलोचक उनकी तीन रचनाओं को प्रामाणिक मानते हैं-**सूरसागर, सूरसारावली** तथा **साहित्यलहरी**। इनमें **'सूरसागर'** सूरदास की सर्वमान्य और सर्वाधिक महत्त्व की प्रामाणिक कृति है। किन्तु, कतिपय विद्वान् शेष दो कृतियों-**'सूरसारावली'** और **'साहित्यलहरी'**-को अष्टछापी महाकवि सूर की प्रामाणिक रचनाएँ नहीं मानते हैं। ऐसे मनीषी आलोचकों में डॉ. धीरेन्द्र वर्मा,[1] डॉ. व्रजेश्वर वर्मा, डॉ. किशोरीलाल गुप्त, डॉ. रमाशंकर तिवारी आदि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं के सूरकृत न होने का एक प्रबल आधार यह भी है कि इनका उल्लेख 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' में ही नहीं, गोस्वामी हरिराय के 'भावप्रकाश' तक में नहीं हुआ है।

## सूरसागर

**'सूरसागर'** के नाम से विदित होता है कि यह सूर की सारी रचनाओं का संकलन है। चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता के अनुसार **"सूरदास जी ने सहस्रावधि पद किए हैं ताको सागर है यह सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।"** तात्पर्य यह है कि सूरदास जी ने हजार (हजारों) की संख्या में पदों की रचना की थी, उन्हीं का संग्रह **'सूरसागर'** में किया गया है। वार्त्ताओं की टीका **'भावप्रकाश'** से यह भी स्पष्ट होता है कि **'सूरसागर'** में ज्ञान-वैराग्य के भिन्न-भिन्न भक्ति प्रकारों, विविध भगवत्-अवतारों और उनकी लीलाओं का वर्णन किया गया है। देशाधिपति अकबर ने भी सूर से मिलने के बाद उनके पदों को संकलित कराया था, जो फ़ारसी लिपि में लिखे गये थे। वार्त्ता के इन उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूर के जीवन-काल में ही उनके हजारों पदों के संग्रह की प्रवृत्ति विकसित हो गयी थी। लेकिन, आज सूर के पदों का ऐसा कोई संकलन नहीं है, जिसे कवि ने स्वयं संकलित किया हो या उसके समय का हो।

**'सूरसागर'** के जो हस्तलेख मिलते हैं, वे दो तरह के हैं। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत वे हस्तलेख आते हैं, जिनमें श्रीकृष्ण के ब्रजचरितविषयक पदों का लीलाक्रमानुसारी संकलन किया गया है। दूसरे प्रकार के पाण्डुलेख वे हैं, जिनमें कवि

1. "इस प्रकार महाकवि (सूर) की एकमात्र प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण रचना 'सूरसागर' ही रह जाती है।" सूरसागर-सार, पृ. 8, साहित्य भवन (प्रा.) लिमि. इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण 1970 ई.।

की समग्र पद-रचना को श्रीमद्भागवत के द्वादशस्कंधीरूप में प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्रथम प्रकार के पाण्डुलेख की परम्परा ही अपेक्षाकृत अधिक पुरानी है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस दूसरी परम्परा के हस्तलेखों में भी, प्रथम प्रकार ही भाँति ही, श्रीकृष्ण की ब्रज-लीलाओं से सम्बद्ध पदों का ही प्राधान्य है। इनके अतिरिक्त भागवत के अन्य अनेक स्कंधों की कथाओं को अत्यंत संक्षेप में वर्णित किया गया है, जिन्हें काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार, **'सूरसागर'** के इन संग्रह (लीला) परक और स्कंधपरक पाण्डुलेखों की परम्पराओं के आधार पर उनके अनेक मुद्रित संस्करण सामने आए।

पहले पहल **'सूरसागर'** की प्रतियाँ आगरा, मथुरा और दिल्ली से उन्नीसवीं शती में मुद्रित हुईं और उनके अनेक संस्करण बाद में सामने आये, जिन्हें यों देखा जा सकता है–

**आगरा** : 1. **सूरसागर,** प्र.मु. मतबअ ईजाद प्रेस (लीथो) सन् 1867, तीसरी बार।
2. **सूरसागर,** प्र.मु. मतबअ कृष्णलाल प्रेस, (संग्रहपरक, लीथो), सन् 1882 ई.।

**कलकत्ता** : 1. **सूर-संगीत सार,** प्र. अरुणोदय मु. बंगवासी प्रेस, सन् 1902; विनय तथा बाललीला से भ्रमरगीत तक के पदों का संक्षिप्त संकलन।
2. **राग-कल्पद्रुम** तीन भाग संपा. कृष्णानन्द व्यास, रागसागर, संपा. नगेन्द्रनाथ वसु, प्र. बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, मु. विश्वकोश प्रेस, कलकत्ता, 1914-16 ई.

**काशी** : 1. **सूरसागर-रत्न** (पूर्ण, संग्रहपरक), संपा. रघुनाथदास, मु. बनारस लाइट प्रेस, सन् 1867 ई. (लीथो)।
2. **सूरसागर,** संपा. जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्रका. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, मु. इंडियन प्रेस, बनारस शाखा, 1907 ई., आठ खण्ड (अपूर्ण)।
3. **सूरसागर-2** खण्ड, प्रका. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, मु. हिन्दी टाइम टेबुल प्रेस, सन् 1948 ई. (स्कंधपरक, पूर्ण)।

**जयपुर** : **सूरसागर** (पूर्ण, संग्रहपरक), प्रका. मतबअ ईजाद प्रेस (लीथो), सन् 1865 ई.।

**दिल्ली** : **सूरसागर** (पूर्ण, संग्रहपरक), प्रका. मतबअ इलाही प्रेस (लीथो), सन् 1860 ई.।

**मथुरा** : 1. **सूरसागर** (पूर्ण, संग्रहपरक), प्र. मुदैउल-उलूम प्रेस (लीथो), सन् 1860 ई.।

2. **सूरसागर** (लीलापरक), संपा. पं. जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्रका. बिनानी ट्रस्ट, कलकत्ता, सन् 1965 ई.।

**मुंबई** : **सूरसागर** (पूर्ण, स्कन्धपरक), संपा.-बाबू राधाकृष्णदास, प्रका. वेंकटेश्वर प्रेस, सन् 1896 ई.।

1. सूरसागर (पूर्ण स्कन्धपरक), प्रका. वेकटेश्वर प्रेस बम्बई,· सन् 1934 ई.।

**लखनऊ** : 1. **सूरसागर** (पूर्ण, संग्रहपरक), प्रका. नवलकिशोर प्रेस, सन् 1864 (लीथो)।

2. **सूरसागर** (पूर्ण, संग्रहपरक), संपा. पं. कालीचरन, प्रका. नवलकिशोर प्रेस लखनऊ।

3. **सूरसागर** (पूर्ण, संग्रहपरक), संपा. रामरत्न वाजपेयी, प्रका. नवलकिशोर प्रेस, सन् 1817 ई. तथा आठवीं बार 1845 ई.।

4. **सूरसागर** (पूर्ण, लीलापरक) प्रका. नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (टाइप), फरवरी, 1889 ई., छठीं बार। यह संस्करण मेरे पास मौजूद है। यह कृष्णानन्द व्यास रामसागर द्वारा संगृहीत कलकत्ता के **'राग-कल्पद्रुम'** का ही पुनर्मुद्रण है, क्योंकि इसके आरंभ में प्रकाशित **'सूरसागर-सारावली** के शुरू में लिखा है-**"अथ श्री सूरदास जी कृत सूरसागर सारावली तथा सवा लाख पद के सूचीपत्र श्री कृष्णानंद व्यासदेव रागसागर संग्रहकृत तथा रागकल्पद्रुम लिख्यते।"** इसके बाद **'सूरसागर'** के लीलापरक पदों को 66 पृष्ठ से लेकर 1004 पृष्ठों में प्रकाशित किया गया है। इनके अतिरिक्त सूर के पदों के अनेक संक्षिप्त और प्रकाशित तरह-तरह के और संकलन भी मिलते हैं।

ऊपर उद्‌धृत संग्रहपरक संस्करणों को हम लीलापरक कह सकते हैं। ऐसे सभी संस्करणों में श्रीकृष्ण की लीलाओं का प्राधान्य है। इनमें विनय और रामकथा के पदों को अंत में रखा गया है। इसके विपरीत स्कंधपरक संस्करणों में पहले विनय के पदों को स्थान मिला है। पुनः भागवत के द्वादश स्कंधों के आधार पर पदों को विभक्त कर रखा गया है। इसके दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध अंश में श्रीकृष्ण की तमाम लीलाओं की पदावलियां रखी गयी हैं। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि कलकत्ता और लखनऊ के संस्करणों में विनय के पद न तो आरंभ में रखे गये हैं और न अंत में। ये पद रासलीला के पदों के बाद और मथुरा-प्रयाण के पहले समाहृत हुए हैं।

**'सूरसागर'** के उपलब्ध पाण्डुलेखों में भी उपर्युक्त दो प्रकार के संस्करण ही पाये जाते हैं, जिनमें स्कंधपरक की अपेक्षा लीलापरक रूप ही प्राचीन है। इसकी हस्तलिखित ज्ञात प्रतियों में सर्वाधिक प्राचीन मानी गयी है जयपुर पोथीखाना की सं. 1630 (सन् 1573 ई.) की प्रति। **'सूरसागर'** के अनेक हस्तलेख नाना स्थानों से मिले हैं, जिनमें मथुरा, कोटा, नाथद्वारा, बूंदी, उदयपुर आदि स्थानों से उपलब्ध प्रतियाँ

प्रमुख हैं। ये सारी प्रतियाँ 17वीं-18वीं शती की हैं। ये उपलब्ध पाण्डुलेख प्रायः लीलापरकरूप में ही पाये जाते हैं। लेकिन, इनमें **'सूरसागर'** का स्कन्धपरक रूप ही अधिक प्रचलित और लोकप्रिय है। लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से **''सूरसागर'** का जो संस्करण प्रकाशित हुआ था उसके पुनर्मुद्रण न हो पाने से मुंबई के वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित स्कंधपरक **'सूरसागर'** की मांग बढ़ गयी। इसलिए, उसका अनेकानेक बार पुनर्मुद्रण हुआ। सूर के पदों की संख्या की बढ़ोतरी को ध्यान में रखते हुए प्रसिद्ध कवि जगन्नाथदास **'रत्नाकर'** ने **'सूरसागर'** की बहुत सारी हस्तलिखित प्रतियों को एकत्रकर उसके संपादन में हाथ लगाया। किन्तु, 1432 पदों के प्रकाशन के बाद, 1936 ई. में उनके निधन के पश्चात् उसके.आगे का काम ठप हो गया। 'रत्नाकर' जी पाठ-भेद भी दे रहे थे। फिर तो, उसके काफी दिनों बाद **'रत्नाकर'** जी की संचित सामग्री का उपयोग करते हुए पं. नंददुलारे वाजपेयी ने **'सूरसागर'** का दो खण्डों में संपादन किया, जिसे नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने सं. 2005 (प्रथम खण्ड) और सं. 2007 (द्वितीय खण्ड) में प्रकाशित किया। इसमें पाठ-भेद पर ध्यान नहीं दिया गया और इसका स्वरूप स्कन्धपरक ही रहा।

पं. वाजपेयी द्वारा संपादित **'सूरसागर'** के इस संस्करण में सूरदास मदनमोहन, कुंभनदास, परमानंददास, हितहरिवंश आदि के अनेक पदों का भी समाहार हो गया है। विगत अनेक दशकों से **सूरसागर** के इस संस्करण का ऐसा बोलबाला रहा कि उसके प्रकाशन के बाद सूरविषयक अब तक शोध-समीक्षा के जितने काम हुए हैं, उन सबके मूल में यही संस्करण अवस्थित है। पदसंख्या इसकी 4936 है। इनके अतिरिक्त 270 पद इसके परिशिष्ट में दिये गये हैं।

**सूरसागर** की पदसंख्या को लेकर **'एक लक्ष पदबंद'** की बात एक अनुश्रुति होने के कारण, प्रमाणित नहीं मानी जाती है। कुछ मनीषी उक्त कथन के **'लक्ष'** का अर्थ **'लक्ष्य'** लेकर कहते हैं -**"एक ही लक्ष्य से उन्होने अपने पदों की रचना की थी**[1]।

जैसा इसके पहले कहा जा चुका है कि **'सूरसागर** के स्कंधपरक स्वरूप में श्रीकृष्ण के ब्रजलीलापरक पदों का ही प्राधान्य है। भागवत के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध, जिसमें श्रीकृष्ण की ब्रज-लीलाओं का वर्णन किया गया है, की पद-संख्या 4160 है और इसी स्कंध के उत्तरार्द्ध, जिसमें श्रीकृष्ण के द्वारकाचरित का अंकन किया गया है, की पद-संख्या 149 है। इस प्रकार, दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के कुल पदों की संख्या 4309 ठहरती है। इनके अतिरिक्त नौवें स्कंध में राम और परशुराम से सम्बद्ध पदों की संख्या 174 है। शेष अन्य स्कंधों के अन्तर्गत प्राप्त पदों की संख्या अल्प है।

---

1. सूरसागर सटीक, संपा. डॉ. हरदेव बाहरी तथा डॉ. राजेन्द्रकुमार पृ. 3, भूमिका, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् 1974 ई.

चूँकि **'सूरसागर** का स्कंधपरक रूप ही अधिक प्रचलन में रहा, इसलिए, उसके आधार पर प्रायः लोगों ने यह समझ लिया कि **'सूरसागर** भागवत का रूपान्तरण अथवा छायानुवाद मात्र है। कहना न होगा कि **सूरसागर** की श्रीकृष्ण की ब्रज-लीलाओं का आदि आधार भागवत का दशम स्कंध पूर्वार्द्ध ही है, फिर भी, उसे भागवत का रूपान्तरण या छायानुवाद कहना सर्वथा असंगत और अनुचित है। सूर ने भागवत से प्रेरणा मात्र लेकर कृष्ण की विविध लीलाओं का जो भावानुभूतिमय चित्रण किया है, उससे उनकी विलक्षण मौलिक काव्य प्रतिभा की मौलिक पहचान बनती है। सूर ने अपने अपूर्व प्रातिभ संस्कार को लोकतत्त्व से समन्वितकर श्रीकृष्ण की अनेक लीलाओं की एकदम नूतन उद्‌भावनाएँ की हैं। इनमें राधा की उद्‌भावना सर्वथा उनकी अपनी एक नयी चीज़ है, जिसकी चर्चा भागवत में कहीं नहीं की गयी है। यही नहीं, उन्होंने राधा-कृष्ण की लीलाओं को जिस मृदु मिठास के साथ व्यंजित किया है, वे भी भागवत से एकदम भिन्न और विलक्षण होने के कारण उनकी विशिष्ट और मौलिक काव्य-प्रतिभा का दम भरती हैं। इसी प्रकार, सूर और भागवत के भ्रमरगीत के दृष्टिकोण में भी बड़ा अंतर है। भागवत की गोपियाँ उद्धव से प्राप्त कृष्ण-संदेश को सिर पर सहर्ष धारण कर लेती हैं, जबकि सूर का भ्रमरगीत साम्प्रदायिक आलोक में आगे बढ़कर न केवल सगुण-निर्गुण वादों की बात करता है वरन् ज्ञान, भक्ति और कर्म-सिद्धान्तों की ऐसी भावमयी मीमांसा करता है, जिससे आदर्श व्यंग्य-प्रधान काव्य की संसृष्टि होती है।

**सूरसागर** का मुख्य वर्ण्य विषय श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान करना ही रहा है। श्रीकृष्ण-जन्म से लेकर उनके ब्रजवास तक की तरह-तरह की लीलाओं, उनके मथुरा-प्रस्थान, द्वारका-प्रयाण और उसके बाद कुरूक्षेत्र में ब्रजवासियों से भेंट करने तक की नाना लीलाओं का क्रमानुसारी वर्णन **सूरसागर** में हुआ है। गेय पद-शैली में विरचित होने से **सूरसागर** में प्रक्षेपों की काफी संभावनाएँ भी रही हैं। इसलिए, **सूरसागर** में पदों की बढ़ोतरी होती रही। आज **सूरसागर** का जो स्वरूप हमारे सामने है उसमें विविध लीलाओं की जो इतिवृत्तात्मक पुनरावृत्तियाँ पायी जाती हैं, उनका कारण शायद यही है। **सूरसागर** के वर्तमान संस्करणों में उपलब्ध होने वाले ऐसे प्रसंग जिनका संबंध श्रीकृष्ण-लीला से इतर अवतारों और अन्य कथाओं से है तथा जिनकी वर्णन-शैली भी इतिवृत्तात्मक है, ऐसे प्रकरणों को सूरकृत मानने में उन के सुधी समीक्षकों ने संशय प्रकट किया है।

**'सूरसागर'** के स्कंधपरक संस्करणों में भी श्रीकृष्ण की ब्रज-लीलाओं का ही प्राधान्य है। इन लीलाओं के बाद दूसरे स्थान पर विनय के पदों को रखा जा सकता है। और तत्पश्चात् रामकथा-विषयक पदों को हम तीसरे स्थान पर रख सकते हैं। इनके अतिरिक्त शेष अन्य प्रकरणों के पद एक तो परिमाण में अत्यंत कम हैं और दूसरे इनकी इतिवृत्तात्मक स्थिति को देखते हुए यह आसानी से कहा जा सकता है कि ये बहुत कुछ भागवत के स्कंधीय ढाँचे की खानापूरी के हेतु विरचित हुए हैं। इसलिए, इनसे कवि की रमणीय चित्त-वृत्ति का परिचय नहीं मिलता।

**'सूरसागर'** में वर्णित कृष्णलीला के नाना प्रकरणों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुविन्यास की दृष्टि से ये लीलाएँ स्वयं में पूर्ण हैं। इसलिए, ऐसे प्रसंगों को बाद में स्वतंत्र पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया जाता रहा। फिर भी, अपने आप में पूर्ण ये लीलाएँ समग्र कृष्णलीलाओं की अंगभूत ही मानी जायेंगी।

**'सूरसागर'** में वर्णित कृष्णलीलाओं के बाद पद-संख्या के विचार से भी दूसरा स्थान विनय के पदों का है। 'सभा' द्वारा प्रकाशित **सूरसागर** में विनय के पदों की संख्या 223 है तथा वेंकटेश्वर प्रेसवाले संस्करण में मात्र 112। प्रायः इन पदों की प्रामाणिकता संदेह से परे मानी गयी है। **प्रायः** यह भी माना जाता है कि सूर ने इन पदों की रचना तब की जब वे वल्लभसंप्रदाय से दीक्षित नहीं हुए थे, जिसकी पुष्टि वार्त्ता साहित्य से भी होती है। विनय के इन पदों में कवि के भक्ति-विगलित चित्त की व्यंजना हुई है, जिसके मूल में प्रेम-भाव सर्वत्र रहता है। कवि की दैन्यभावभावित भक्ति-चेतना कहीं अपने को पूरी तरह समर्पित करती है, कहीं अपनी विरक्त अन्तश्चेतना की झाँकी सजाती है, कहीं अपने आराध्य की अनंत अनुकंपा या भक्तवत्सलता का दम भरती है, कहीं भक्ति की विविध स्थितियों की पहचान कराती हुई नाम-जप पर विशेष बल देती है, कहीं समष्टि-चेतना से एकात्म-भाव स्थापित कर अपने युग-जीवन की परछाईं प्रस्तुत करती है और कहीं अपने विषयासक्त मन को जगाकर उसे भगवद्भक्ति और सत्संग में तल्लीन होने का उपदेश भी देती दिखाई देती है। अनुभूति की गहनता के नाते इन पदों में आत्माभिव्यक्ति का स्वर ऐसा प्रखर है जिससे ये गीतिकाव्य के आदर्श उदाहरण माने जा सकते हैं। इन पदों की भाषा-शैली भी कथ्य को बड़ी सफलता के साथ सामने रखती है।

**'सूरसागर'** के नौवें स्कंध में राम-कथा का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत राम-कथा के जिन प्रकरणों को लिया गया है, उनके नाम हैं - राम-जन्म, बाल-क्रीड़ा, धनुर्भंग, केवट-प्रसंग, पुरवधू-प्रश्न, भरत-भक्ति, सीता-हरण, राम-विलाप, हनुमान् द्वारा सीता की खोज, हनुमान्-सीता-संवाद, रावण-मंदोदरी-संवाद, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम-विलाप, हनुमान् द्वारा संजीवनी लाना, सीता—अग्निपरीक्षा और राम का अयोध्या आगमन आदि। लंकाकाण्ड से सम्बन्धित पदों की संख्या सबसे अधिक है, क्योंकि सूर ने इस काण्ड के रावण-मंदोदरी-संवाद, लक्ष्मण के घायल होने पर राम-विलाप, हनुमान् द्वारा संजीवनी लाने आदि प्रसंगों को काफी तरजीह दी है। इसके बाद कवि ने सुंदरकाण्ड के प्रकरणों पर सर्वाधिक ध्यान दिया है। सूर राम-कथा के उन्हीं प्रसंगों का चयन करते हैं, जिनमें करुण और कोमल भावों की समाई अधिक होती है। तुलसी की भाँति सूर राम के शक्ति, पराक्रम, ओज, तेज, पौरुष आदि गुणों का बखान नहीं करते। रामकथा का चित्रण करते हुए सूर ने कहीं भी उस पर अपने साम्प्रदायिक भावों की आँच नहीं आने दी है। इस पूरे प्रसंग में दैन्यभाव प्रबल होकर आया है।

सूर ने कृष्ण की लौकिक और अलौकिक लीलाओं का साथ-साथ चित्रण किया है। सूर द्वारा वर्णित लौकिक लीलाओं के नाम हैं-चन्द्र-प्रस्ताव, माखन-चोरी, ग्रीष्म-लीला, यमुना-विहार, जल-क्रीडा, निकुंज-क्रीडा, अनुरागसमय, खण्डिता-समय, नैन समय, फाग, होली आदि। इन प्रसंगों का चित्रण संश्लिष्ट पद्धति से पदसमूहों में किया गया है, जिन्हें हम खण्डकाव्य की कोटि में रख सकते हैं। इसी प्रकार, कृष्ण की अलौकिक लीलाओं के अन्तर्गत आनेवाले प्रसंग हैं-पूतना, कागासुर, शकटासुर, वत्सासुर, वकासुर, धेनुक, शंखचूड़, वृषभ केशी, भौमासुर आदि। कहना न होगा कि इन असुरों की संहारपरक लीलाओं को लेकर जिन पद-समूहों की रचना की गयी है, उन्हें भी हम खण्डकाव्य की कोटि में रख सकते हैं। लेकिन, ऐसा होते हुए भी, ये दोनों प्रकार की समग्र लीलाएँ कृष्णलीला की ही अंग मानी जायेंगी। इनके अतिरिक्त **'सूरसागर'** में ऐसे और भी प्रसंग पाये जाते हैं, जिन्हें हम उत्कृष्ट खण्डकाव्य की श्रेणी में परिगणित कर सकते हैं, जैसे, उलूखल बंधन तथा यमलार्जुन उद्धार, अघासुर वध, बाल वत्सहरण-लीला, राधा-कृष्ण-प्रथम मिलन, कालिय-दमन-लीला, चीरहरण, पनघट-प्रस्ताव, यज्ञपत्नी-लीला, गोवर्धन-लीला, दान-लीला, रास-लीला, मान-लीला, वसन्त-लीला, भ्रमरगीत, कुरुक्षेत्र मिलन आदि। इस प्रकार, कह सकते हैं कि सूर की महीयसी काव्य-प्रतिभा **'सूरसागर'** के गेय प्रबंध स्वरूप को महाकाव्य-सदृश महिमा से मंडित करती है।

## सूरसागर सारावली (सूर सारावली)

इस रचना का मूल नाम **सूरसागर सारावली** ही है, किंतु, संक्षेप में उसे **सूर सारावली** भी कहा जाता है, यद्यपि सूर-साहित्य के मर्मी विद्वान् श्री प्रभुदयाल मीतल इसके प्रख्यात नाम **सूरसागर सारावली** के स्थान पर **'सूर सारावली'** ही कहना क्यों पसन्द करते हैं, इस पर विमर्श करते हुए उन्होंने लिखा है-**सूरदास ने हरि-लीलाविषयक जिन कथात्मक और सेवात्मक पदों का गायन किया, उन्हीं के सैद्धान्तिक सार रूप में उन्होंने 'सारावली' की रचना की।** परन्तु, मीतलजी के इस अभिमत पर अपनी असहमति व्यक्त करते हुए डॉ. व्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है—**परन्तु सारावली के नाम के संशोधन तथा उसके वर्ण्य-विषय के संबंध में मीतल जी की मौलिक मान्यता का समर्थन 'सारावली' के वर्तमान रूप से नहीं होता।** कहना न होगा कि सूर-कृतित्व की चर्चा करते समय अधिकांश समीक्षकों ने इसे सूर की प्रामाणिक रचना होने का उल्लेख किया है, किन्तु, सभी विद्वान् इसे एक स्वर से सूर की प्रामाणिक रचना मानने को तैयार नहीं। इस संबंध में विद्वानों के तीन तरह के अभिमत पाये जाते हैं। इनमें से प्रथम मत के समर्थकों में उन विद्वानों के नाम आते हैं, जो इसे अष्टछापी महाकवि सूर की प्रामाणिक रचना मानते हैं। ऐसे विद्वानों में बाबू राधाकृष्णदास, डॉ. मुंशीराम शर्मा, डॉ. दीनदयालु गुप्त, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, श्री द्वारकाप्रसाद परीख तथा श्री प्रभुदयाल मीतल, डॉ. हरवंशलाल शर्मा आदि के नाम

उल्लेख्य हैं। और दूसरे मत के **कायलों** में हम उन विद्वानों को गिन सकते हैं जो उसे अष्टछापी प्रसिद्ध कवि सूर की प्रामाणिक कृति नहीं करार देते। ऐसे मतानुयायियों में डॉ. धीरेन्द्र वर्मा का नाम सबसे पहले इसलिए लिया जा सकता है, क्योंकि उन्होंने अपने संपादित ग्रंथ **'सूरसागरसार'** की प्रस्तावना में महाकवि सूर और उनकी रचनाओं का परिचय देते हुए इस एक वाक्य मात्र में अपने उस मंतव्य का स्पष्ट परिचय दे दिया है, जिससे **सूरसागर** सूर की एकमात्र कृति ठहरती है :-

**इस प्रकार महाकवि की एकमात्र प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण रचना सूरसागर ही रह जाती है।**[1] उक्त पुस्तक में डॉ. वर्मा ने मात्र अपने अभिमत को ही व्यक्त किया है, उनके इस मत का आधार क्या है, इसे स्पष्ट नहीं किया। इस दूसरे मत के अन्य अनुयायी विद्वानों के नाम हैं:-डॉ. व्रजेश्वर वर्मा, डॉ. किशोरीलाल गुप्त और डॉ. रमाशंकर तिवारी। इनके अतिरिक्त डॉ. प्रेमनारायण टंडन ने **'सूर सारावली': एक अप्रामाणिक रचना** नाम से एक बड़ी पुस्तक लिखकर इसे सूर की कृतित्व-परिधि से सर्वथा बाहर कर दिया है। तीसरे मत के अन्तर्गत उन विद्वानों को परिगणित किया जा सकता है, जो 'सारावली' को संदिग्ध मानते हैं। इस कोटि के मनीषी हैं-सर्वश्री मिश्रबन्धु और डॉ. रामरतन भटनागर। इस मतत्रयी की यथाभिलषित पूर्ण समीक्षा तो यहाँ संभव नहीं, इसलिए, अत्यन्त संक्षेप में **'सारावली'** का समीक्षात्मक परिचय दिया जा रहा है।

**सूरसागर सारावली** की प्रामाणिकता के प्रति संशय उत्पन्न होने का सर्वप्रथम बड़ा कारण यह है कि इस रचना की कोई हस्तलिखित प्रति अब तक कहीं से उपलब्ध नहीं हुई है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने लिखा है कि **'सारावली'** की प्राचीनतम मुद्रित प्रति सं. 1880 वि. (सं. 1823 ई.) के गुजराती रूपान्तरण के रूप में उपलब्ध होती है। इसका अभिप्राय यही हुआ कि **'सारावली'** के उल्लेख की परम्परा उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के पहले कहीं नहीं मिलती। सूर की 'वार्त्ता' और गोस्वामी हरिराय की ओर से भी **'सारावली'** के अस्तित्व का कोई पता नहीं लगता। हिन्दी को **'सारावली'** के बारे में सबसे पहले पता देनेवाली रचना **'रागकल्पद्रुम'** है, जिसमें **सूरसागर** के साथ **सारावली** सं. 1898 वि. (सन् 1841 ई.) में कलकत्ता से प्रकाशित की गयी थी। लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से जब कलकत्ता के उक्त **रागकल्पद्रुम** का पुनर्मुद्रण सं. 1920 वि. (सन् 1863 ई.) में हुआ तो उसमें भी **'सारावली'** पहले की भांति ही **सूरसागर** के साथ प्रकाशित हुई। इसके बाद **'सारावली'** तीसरी बार तब प्रकाश में आयी जब मुंबई के श्री वेंकटेश्वर प्रेस से **सूरसागर** के साथ सं. 1953 वि. (सन् 1896 ई.) में उसका प्रकाशन हुआ। यद्यपि **'सारावली'** के उक्त तीन रूपों के पाठों में एक जैसी स्थिति देखी जाती है तथापि उसके उत्तरवर्ती संस्करणों में तद्भव शब्दों को तत्सम में ढाल शुद्ध करने के अशुद्ध प्रयास की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

---

1. **'सूरसागर–सार'**, संपा. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 8, साहित्य भवन, लिमि. इलाहाबाद, सन् 1970 ई।

इस रचना में दिये गये तथ्यों से ज्ञात होता है कि इसका उद्देश्य सूरसागर का सारांश प्रस्तुत करना ही है :

**श्रीबल्लभ गुरुतत्व सुनायो, लीलाभेद बतायो।**
**ता दिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पदबंद।**
**ताको सार सूरसारावलि गावत अति आनंद।।**

इसे **सूरसागर** का सूचीपत्र भी इसलिए कहा गया है, क्योंकि यह हरिलीला-गान सार की अवली (समूह) है-**इतिश्री सूरदासजी कृत सम्मतसरलीला तथा सवा लाख पद के सूचीपत्र समाप्त**। यह ग्रंथ **सूरसागर** पर आधारित है तथा उसकी अनेक पंक्तियों-शब्दों को इसमें तद्वत् ग्रहण कर लिया गया है। परन्तु, ऐसा होते हुए भी **सूरसागर** और **'सारावली'** में बड़ा अन्तर है, जिसे **'सूरदास'** नामक अपने शोध-ग्रंथ में डॉ. व्रजेश्वर वर्मा ने बड़े विस्तार से अकाट्य तर्कों के आधार पर स्पष्ट किया है। अपने अध्ययन का निष्कर्ष देते हुए डॉ. वर्मा ने लिखा है-**'सारावली' ' सूरसागर' के पदों का सूचीपत्र नहीं है, यह एक स्वतंत्र रचना है, जिसकी कथावस्तु में 'सूरसागर' की कथावस्तु से घनिष्ठ साम्य होते हुए भी उसे सूरसागर का संक्षेप भी नहीं कह सकते**।[1]

इस रचना में कुल 1107 सार और सरसी छंद मिलते हैं। प्रारम्भ में, इसमें वंदना का जो पद दिया गया है वह **सूरसागर** के वंदनावाले प्रथम छंद से साम्य रखता है। शुरू में सृष्टि के विस्तार का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

**सूरसारावली** के कवि ने समग्र सृष्टि के विधान को होली-लीला के रूपक के माध्यम से वर्णित किया है। संपूर्ण संसार और उसके समग्र व्यापार सृष्टिकर्ता के क्रीडारूप हैं। इसका आधार **'पुरुषोत्तम सहस्रनाम'** है, जिसे वल्लभाचार्य ने श्रीमदभागवत का **'सारसमुच्चयरूप'** माना है।

इसमें चौबीस अवतारों का अत्यंत संक्षेप में वर्णन करते हुए रामावतार का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके बाद, कृष्णावतार की भूमिका के साथ कृष्ण-लीलाओं का क्रमानुसारी वर्णन हुआ है। इस ग्रंथ का एक और उद्देश्य **'संवत्सर-लीला'** का वर्णन करना भी है, जैसा कि ऊपर उदधृत उसके अन्तिम कथन से स्पष्ट होता है। श्रीकृष्ण की लीलाओं को लेकर पुष्टिमार्गीय मंदिरों में वर्षभर के व्रतोत्सवों की 'सेवा' का जो विधान किया जाता है, उसे ही **'संवत्सर-लीला'** की 'सेवा' कहा जाता है, जिसका उल्लेख 'सारावली' में दूसरे उद्देश्यरूप में किया गया है।

भाषा-शैली की दृष्टि से इस रचना और सूरसागर में काफी अन्तर है। यही नहीं, दोनों के दृष्टिकोणों में भी पर्याप्त भेद पाया जाता है। यद्यपि काव्य-गुणों की दृष्टि से यह एक नितांत खोखली रचना है तथापि पुष्टिमार्गीय विचार से उसकी महिमा

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, पृ. 616, सं. 2020 वि.

निर्विवाद है। शायद, इसलिए इसे बहुत से सूर-मनीषी सूरकृत प्रामाणिक रचना मानने का लोभ-संवरण नहीं कर पाते।

इस संबंध में एक विशेष बात कहने की यह है कि डॉ. व्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है कि **'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो** की टेकवाला पद **सूरसागर** में उल्लिखित नहीं हुआ है, किन्तु, मेरे पास नवलकिशोर प्रेस से छठीं बार फरवरी सन 1898 ई. में सूरसागर के साथ प्रकाशित **'सूरसागर सारावली'** की जो प्रति है, उसके अन्त में 1107 छंदों की संख्या के बाद परिशिष्टरूप से जुड़े अनेक प्रसंगों में **'अथ श्री भगवान को सेवाफल'** नाम का सबसे अन्त में जो प्रकरण आया है उसके एकदम आखिर में उक्त पद का तद्वत् उल्लेख किया गया है।

## साहित्यलहरी

'सूरसारावली' की भाँति ही **'साहित्यलहरी'** को भी अधिकांश आलोचक सूरदास की प्रामाणिक रचना मानने का दम भरते हैं, किन्तु कतिपय सुधी और शोधी समीक्षक ऐसे भी हैं, जिनकी दृष्टि से वह सूर की प्रामाणिक कृति नहीं ठहरती। **'साहित्यलहरी'** को सूर की प्रामाणिक रचना माननेवालों में बाबू राधाकृष्णदास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. दीनदयाल गुप्त, डॉ. मुंशीराम शर्मा, डॉ. हरवंश लाल शर्मा, श्री प्रभुदयाल मीतल, आदि आलोचकों के नाम आते हैं। **'साहित्यलहरी'** सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं है, इस मत के पोषक विद्वानों में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. व्रजेश्वर वर्मा, डॉ. किशोरीलाल गुप्त और डॉ. रमाशंकर तिवारी के नाम प्रमुख हैं। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपने 'हिन्दी साहित्य का अतीत' भाग-एक में बहुत पहले कहा था-**'जिन सूर ने 'साहित्यलहरी' का निर्माण किया, वे कोई 'नवीन सूर' है।** इसी सूत्र को पकड़कर डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने सूरविषयक शोध का एक नया ग्रंथ, जिसका नाम **'सूर और सूर नवीन'** है, हिन्दी-जगत् को भेंट किया। अपने इस ग्रंथ में डॉ. गुप्त ने यह माना कि अष्टछापी महाकवि सूरदास की एकमात्र रचना **'सूरसागर'** ही है और परंपरा से उनके नाम पर चढ़ी चली आनेवाली **'साहित्यलहरी'** और **'सूरसागर सारावली'** नामक रचनाएँ उनकी न हो उन **'सूर नवीन'** की रचनाएँ हैं, जो चंदवरदाई के वंशज है। अब देखना है कि उनकी यह उपपत्ति सूर के सुधी समीक्षकों को कितनी रास आती है ?

**'साहित्यलहरी'** की अब तक कोई पूर्ण हस्तलिखित प्रति नहीं उपलब्ध हुई है। इस रचना के कुल 8 ऐसे खंडित हस्तलिखित पत्र श्री प्रभुदयाल मीतल को वाराणसी के 'सरस्वती भंडार, रामनगर दुर्ग से मिले हैं, जिनमें सरदार कवि के स्वाक्षरों में अंकित कुल 13 पद ही पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त 'साहित्यलहरी' के पाण्डुलेख की कहीं से कोई सूचना नहीं मिलती।

हिन्दी जगत् को इस रचना की सर्वप्रथम जानकारी तब हुई जब उसका प्रथम बार मुद्रण सं. 1925 वि. (सन 1869 ई.) में लाइट प्रेस बनारस से (लीथो) हुआ था।

इस सटीक संस्करण के टीकाकार थे, काशी-नरेश ईश्वरीनारायण सिंह के दरबारी और भारतेन्दुयुगीन ब्रजी के प्रसिद्ध पंडित सरदार कवि। इसके पश्चात् यह रचना सन् 1890 ई. से लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित होने लगी। बाद में, जिसके कई संस्करण पुनर्मुद्रित हो सामने आये। संयोग से, 1929 ई. का इसका पाँचवाँ संस्करण मेरे व्यक्तिगत संग्रह में है। इसके टीकाकार सरदार कवि ने इस ग्रंथ का नाम दिया है **'श्री सूरदास का दृष्टिकूट' (सटीक)।** यहाँ यह ध्यातव्य है कि सरदार कवि ने **'साहित्यलहरी'** के स्थान पर **'सूरदास का दृष्टिकूट'** नाम का व्यवहार इसलिए किया है, क्योंकि **'साहित्यलहरी'** की प्रायः समग्र रचनाएँ कूटार्थ पदमयी हैं, इसलिए उक्त रचना-नाम की जगह 'दृष्टिकूट' जैसे अपर पद का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त, इस रचना के जो अन्य पाँच प्रकाशित संस्करण मिलते हैं, वे सभी **'साहित्यलहरी'** के मौलिक नाम से प्रकाशित हुए हैं, जिनका उल्लेख इस रचना-परिचय के अन्त में किया जायेगा।

सूर की **'साहित्यलहरी'** का सरदार कवि कृत यह सटीक संस्करण प्रथम और द्वितीय भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में कुल पदों की संख्या 117 है, जिसमें पद-संख्या 109 से ग्रंथ-रचना-काल और 110 से कवि के वंश-वृक्ष की सूचना मिलती है।

रचना-काल सूचक पद में ग्रंथ-नांम 'साहित्यलहरी' का उल्लेख इस प्रकार किया गया है:-

**नंदनंदनदास हित साहित्यलहरी कीन।**

उक्त ग्रंथ के द्वितीय भाग में कुल पदों की संख्या 63 है। सरदार कवि ने इन 63 छंदों को सूरसागर का यत्नपूर्वक मंथनकर संकलित किया और उनकी टीका भी की है :

**मतन मतन ते सूर कवि, सागर कियो उदार।**
**बहुत यतन ते मथन करि, रतन लहे सरदार।।**
**तिन पर शुचि टीका रची, सुजन जानिबे हेतु।**
**मनु सागर के तरन को, सुंदर शोभा सेतु।।**

सरदार ने 'सूरदास का दृष्टिकूट' में मात्र दूसरे भाग के 63 पदों को 'सूरसागर' से खोजकर निकाला और प्रथम भाग के 117 पद उनके द्वारा संकलित नहीं हैं। वे संभवतः वही हैं जो **'साहित्यलहरी'** नाम से सूर के कृतित्व के रूप में पहले से चलते चले आ रहे थे। इस प्रकार, दोनों भागों के पदों को मिलाकर कुल पद-संख्या (117 +63) 180 ठहरती है, जबकि शिवसिंह सेंगर ने अपने **सरोज** में सूरदास कवि के इन कूटपदों की संख्या 380 बतायी है[1]। लगता है 180 को 380 समझ लेने की चूक उनसे भ्रमवश हो गयी। लेकिन, **'सरोज-सर्वेक्षण'** के प्रणेता द्वारा उस चूक का दोहराया जाना अखरता है[2]।

---

1. **शिवसिंह सरोज,** पृ.- 502, सातवाँ संस्क., सन् 1926 ई.
2. **सरोज-सर्वेक्षण**-डॉ. किशोरीलाल गुप्त, पृ. 770, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, प्र. सं. 1967 ई.

इस टीका का रचनाकाल सं. 1904 वि. की कातिक की एकादशी है :

**संवत वेद सु शून्य ग्रह, और आतमा विचार।**
**कातिक सुदि एकादशी, समुझि शुद्ध वर वार।।**

**साहित्यलहरी** के दो छंद बारम्बार विशेष चर्चा के विषय बने रहे, जिनमें पहला रचना-समय को बतानेवाला 109वाँ वह पद है, जिसका आरंभ **'मुनि पुनि'** शब्दों से होता है और दूसरा उसके रचयिता का परिचय देनेवाला 110वाँ वह पद है जिसका प्रारम्भ **'प्रथम ही प्रथ'** आदि पदों से होता है। टीकाकार सरदार कवि ने **'मुनि पुनि रसन के रस लेख'** वाले पूरे पद का सारार्थ लगाकर लिखा **संवत सोरह सै सात वैशाख मास अक्षय तृतीया तिथि बुधवार सुकर्म योग।** शुरू में विद्वानों ने इसके रचनाकाल का टीकाकार द्वारा बताया हुआ अर्थ सं. 1607 ही ग्रहण किया, किन्तु, बाद में डॉ. दीनदयालु गुप्त ने इससे सं. 1617 वि. और डॉ. मुंशीराम शर्मा ने सं. 1627 वि. का अर्थ निकाला। लेकिन, मैं **मुनि** का, 7, **पुनि** का 7, **रस** का 6 तथा **दसन गौरीनंद** का 1 अर्थ ग्रहण कर इस कृति का रचनाकाल सं. 1677 वि. मानना अधिक संगत और सटीक मानता हूँ।

इस रचना की बारीकी के साथ छानबीन करते हुए डॉ. व्रजेश्वर वर्मा ने पहले पहल यह बताया कि **'साहित्यलहरी' के 'वर्ण्य-विषय, उसके दृष्टिकोण, उसकी भाषा-शैली आदि के आधार पर भी यह निष्कर्ष निकलता है कि यह रचना किसी अन्य सूर कवि की है, जिसका वास्तविक नाम कदाचित् सूरजचंद था। इसका रचनाकाल 18वीं शताब्दी के पहले नहीं माना जा सकता। यह प्रसिद्ध अष्टछापी महाकवि सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं है।**

इसका अन्य अनेक कारणों के साथ एक बड़ा कारण यह भी है कि इस रचना का रचयिता अपने को ब्रह्मभट्ट चंदवरदायी का वंशज बताता है, जिसका कतई कोई लेना-देना अष्टछाप के सूरदास से सिद्ध नहीं होता। मिश्रबंधु, आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि समीक्षक इसके परिचयवाले पद को प्रक्षिप्त मानकर जो समाधान प्रस्तुत करते हैं, उसे भी अब भरोसे की निगाह से नहीं देखा जाता।

वर्ण्य-विषय को देखते हुए विद्वानों ने इसे **चमत्कारपूर्ण रीति-ग्रंथ** माना है। परन्तु, इसके वस्तुविन्यास के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि इसके रचयिता का सर्वाधिक ध्यान अलंकार-सन्निवेश पर है, फिर अन्य अनेक काव्यांगों पर। अनेक विद्वानों ने इसे लक्षण-उदाहरणपरक लक्षण-ग्रंथ स्वीकार किया है, जबकि यह मात्र उदाहरणों का **'बिहारी-सतसई'** की भाँति का **रीतिसिद्ध ग्रंथ** ठहरता है। इस कृति के प्रायः सभी पदों के अंतिम चरणों में उनमें वर्णित अलंकारादि काव्यांगों के उल्लेख कर दिये गये हैं, जबकि हिन्दी के अन्य रीतिसिद्ध काव्यों में विषय के ऐसे निर्देश नहीं मिलते। इसलिए, इसे विशुद्ध रीतिसिद्ध काव्य भी नहीं मान सकते।

परिचय उस समय मिलता है जब वे देशाधिपति अकबर महान् के समक्ष गाकर यह बेहिचक बता देते हैं कि उनके हृदय में उनके परम आराध्य प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए तनिक भी स्थान नहीं है, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो। ऐसे महान् भक्त ने किस मुसीबत में मुब्तला होकर रीतिकवियों की भांति सालंकार खण्डितादि नायिकाओं तथा अन्य काव्यांगों के वर्णन के साथ उन विषय-वासनाओं की भी होली खेलने की ठानी, जिनसे विलग होने की पुकार लगाते-लगाते उसकी जीभ छिल गयी थी, समझ में नहीं आता। सूरकाव्य में भक्ति-तन्मयता की पराकाष्ठा का रेखांकन हुआ है।

आखिर में मैं इस रचना के उस तथ्य की ओर सूर-साहित्य के सुधी समीक्षकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिस तरफ उनकी दृष्टि गयी तो अवश्य, किन्तु बिना गहरी छानबीन किए ही, **साहित्यलहरी** को सूर की अप्रामाणिक रचना करार देते हुए, यह लिख दिया कि **साहित्यलहरी का एक भी पद प्रकाशित सूरसागरों में नहीं है। अतः इसे सूरसागर से संकलित नहीं कहा जा सकता।**[1] इसी विचार की पुष्टि एक अन्य सूर-मर्मी आलोचक ने यह लिखकर की है कि **सूरसागर में भी 100 दृष्टिकूट उपलब्ध होते हैं और यह आश्चर्य का विषय है कि उनमें से एक भी साहित्यलहरी में सन्निविष्ट नहीं है**[2]।

टीकाकार सरदार कवि का **'श्रीसूरदास का दृष्टिकूट** नाम से **साहित्यलहरी** का सन् 1929 ई. का नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित जो संस्करण मेरे पास है, उसके प्रथम और द्वितीय नामक दो प्रभाग हैं। इसके **प्रथम प्रभाग** में 117 और द्वितीय प्रभाग में 63 पद पाये जाते हैं, जिनमें प्रथम के तो नहीं किन्तु **द्वितीय भाग** के 63 पदों का संचयन टीकाकार सरदार कवि ने स्वयं बड़े 'यत्न से' **सूरसागर** का मंथनकर किया है, ऐसा उन्होंने इसके द्वितीय भाग की समाप्ति पर स्वयं स्वीकार करते हुए लिखा है :-

**मतन मतन ते सूर कवि, सागर कियो उदार।**
**बहुत यतन ते मथन करि, रतन लहे सरदार।।**

इस रचना के विमर्श से ऐसा प्रतीत होता है कि इसके प्रथम प्रभाग के पद वही हैं जो पहले से **साहित्यलहरी** के नाम से संकलित होकर चले आ रहे थे और दूसरे भाग के 63 पदों का संकलन स्वयं टीकाकार ने **सूरसागर** से किया। इस प्रकार, इस रचना में पाये जानेवाले कुल पदों की संख्या (117 +63) 180 ठहरती है, जिनमें से 49 पद सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर में यत्र-तत्र नगण्य शब्दान्तरों के साथ यथावत् रूप से प्राप्त हो जाते हैं। यथा-

---

1. सूर और सूर नवीन, ले. डॉ. किशोरीलाल गुप्त, पृ. 159
2. सूर-संकलन-संपा. डॉ. रमाशंकर तिवारी, पृ. 16

**सखी री सुन परदेशी की बात।**
**अर्द्ध बीच दै गये धाम को हरि अहार चलि जात।।**
**ग्रह नक्षत्र अरुवेद अर्द्ध करि को बरजे मुहि खात।**
**रवि पंचक संग गये श्यामघन ताते मन उकतात।।**
**कहुँ सहोक्त कवि मिले, सूरप्रभु प्राणरहत न तु जात।**

श्री सूरदास का दृष्टिकूट, प्रथम भाग, छं. 24, नव. कि. प्रेस, लखनऊ, पं. संस्क. सन् 1929 ई.।

**कहत कत परदेसी की बात।**
**मंदिर अरध अवधि बदि हमसौं, हरि अहार चलि जात।।**
**ससिरिपु बरष, सूररिपु जुग बर, हरिरिपु कीन्हौ घात।**
**मघपंचक लै गयौ साँवरौ, तातै अति अकुलात।।**
**नखत, बेद, ग्रह जोरि अर्ध करि, सोइ बनत अब खात।**
**सूरदास बस भईं बिरह के, कर मीजैं पछितात।।**

-सूरसागर दूसरा खण्ड छं.-4593, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, पंचम संस्करण 2033 वि.।

यद्यपि उपर्युक्त दोनों पदों में पाठ की दृष्टि से काफी अन्तर है तथापि दोनों पदों की स्थिति एक ही है, यह निर्विवाद है। कहना न होगा कि ऊपर का उद्धृत पहला पद **साहित्यलहरी** के मूल भाग का एक अंग है, क्योंकि इससे पुरानी किसी अन्य मुद्रित प्रति का पता नहीं चलता। इसके अतिरिक्त, इस रचना के द्वितीय भाग के 63 पदों में से 48 पद **सभा** के **सूरसागर** में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं।[1]

1. प्रथम संख्या **'सूरदास की दृष्टिकूट'** की है और दूसरी **सूरसागर** की-1/2715, 2/2728, 3/2729, 4/2730, 5/2734, 6/2750, 7/2925, 9/3002, 10/3083, 11/3085, 12 /3086, 13/3325, 14/3365, 15/3366, 16/3367, 17/3368, 18/3386, 19/3387, 20/3389, 21/3388, 22/3394, 23/3396, 24/3397, 25/3414, 26/3416, 27/1810, 28/1813, 29/1814, 30/1816, 31/1817, 32/1820, 34/4024, 35/3840, 36/3900, 37/3906, 38/3937, 39/3972, 40/4010, 41/4241, 42/4460, 43/4469, 49/4728, 50/2298, 51/2332, 53/2704, 57/3084, 59/4737 और 60/परिशिष्ट (1) 192।

# तत्त्व-चिंतन

महाप्रभु वल्लभ से दीक्षा-ग्रहण के बाद सूर के मानस ने एक ऐसा नया चोला धारण किया, जो सम्पूर्णतः कृष्णानुग्रह के रंग से सराबोर था। किन्तु, यह एकरंगा नहीं, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य-भावों का एक ऐसा तिरंगा घोल था, जिसकी सहज दीप्ति शताब्दियों बाद आज भी यथावत् बनी हुई है। सूरकाव्य में जगह-जगह शुद्धाद्वैत दर्शन विषयक जो बातें वर्णित की गयी हैं, वे सभी ऐसे रमणीय और ललित काव्यगुणों का अंग बनकर आयी हैं कि अलग से उन्हें पहचानना कठिन होता है।

सूरदास मूलतः महाकवि थे, तत्त्वचिंतक नहीं। भागवत की **सुबोधिनी** टीका तथा **पुरुषोत्तम सहस्रनाम** सुनाकर वल्लभाचार्य ने उन्हें अपने सम्प्रदाय के आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश दिया था। सूर ने उन साम्प्रदायिक मान्यताओं को प्रबल समर्थन देते हुए उन्हें काव्य की विशुद्ध भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है। संक्षेप में, सूर-काव्य में प्रतिफलित उनकी साम्प्रदायिक दर्शन की मान्यताओं को यों देखा जा सकता है : -

## ब्रह्म

वल्लभ-दर्शन के अनुसार परब्रह्म सच्चिदानन्द और सदानन्द रूप है। श्रीकृष्ण वही आनन्द-स्वरूप ब्रह्म हैं, जो न केवल लीलावतारी पूर्ण पुरुषोत्तम और लोकरक्षक ही हैं वरन् अद्वितीय लोकरंजक भी। वह रस-रूप नन्दनन्दन धर्म का संस्थापन और संरक्षण भी करता है। **सूरसागर** में वर्णित कृष्ण की लौकिक और अलौकिक लीलाओं में उनके लोकरक्षक तथा लोकरंजक रूपों का मार्मिक उन्मीलन हुआ है। लेकिन, यह ध्यान देने की बात है कि कृष्ण की सभी लीलाओं में उनकी रस-रूप लीलाओं का ही प्राधान्य है। कहना न होगा कि सूर के काव्य में परब्रह्म कृष्ण के लोकरक्षक और लोकरंजक दोनों रूपों का उदघाटन साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुरूप ही हुआ है।

शुद्धाद्वैत मतवाद के मुताबिक श्रीकृष्ण का परब्रह्मत्व विरोधी धर्मों का समवाय है। वह निर्गुण के साथ सगुण, अविभक्त के साथ विभक्त, अचल के साथ चल, अगम्य के साथ गम्य, अदृश्य के साथ दृश्य आदि धर्मों से परिपूर्ण है। सूर के कृष्ण में भी उनके इस विरुद्धधर्माश्रयत्व का और मुखर प्रतिपादन हुआ है। सूर के कृष्ण अवतार की अवस्था में सांसारिक धर्मों का सम्पादन करते हुए भी अच्युत बने रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने इन्हीं विरोधी धर्मों के बल-बूते असम्भव कार्यों को सम्पादित कर सभी को विस्मयजनित आनन्द प्रदान करते हैं। सूर के बाल-लीला के पदों में इसकी सर्वाधिक मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। सूर के पुरुषोत्तम कृष्ण को जब रमण करने की आकांक्षा होती है तब आधिदैविकरूप से अपनी शक्तियों के साथ वह बाह्यतः रमण करता है। उसके इसी आनन्दधर्मी प्रत्यक्ष रूप को पुरुषोत्तम कहा जाता है।

इसी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की लीलाओं को सूर ने पूरे विस्तार के साथ वर्णित किया है। इस परब्रह्म पुरुषोत्तम में अनन्त शक्तियाँ हमेशा निवास करती हैं। जब वह ब्रह्म प्रत्यक्ष हो लीला करने लगता है तो उसकी वे विविध नाम, रूप, गुणवाली अन्तःशक्तियाँ भी प्रकट हो उस लीलाविकास में हाथ बँटाती हैं। इन्हीं शक्तियों के अपर नाम हैं—श्रीस्वामिनी चन्द्रावली, राधा, यमुनादि। यह पुरुषोत्तम अपनी लीला को पूर्ण बनाने के लिए अपने वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना, श्रीगोकुल, पशु, पक्षी, वृक्षादिक सम्पूर्ण परिकर को भी प्रकट करता है। चूँकि पुरुषोत्तम नित्य है, इसलिए, उसके द्वारा की जानेवाली लीलाएँ भी नित्य हैं। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ब्रज में इसलिए अवतरित हुए, क्योंकि उन्हें वेदश्रुतियों की प्रार्थनाओं की पूर्ति करनी थी। फिर तो, वे श्रुतियाँ भी गोपियों के रूप में ब्रज में अवतरित हुईं। सूर ने पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और उनकी लीलाओं का वर्णन परम्परा-प्रथित रूप में किया है। अब सूर-द्वारा वर्णित परब्रह्म के स्वरूप का अवलोकन करें :

**आदि सनातन, हरि अबिनासी। सदा निरंतर घट-घट बासी।।**
**पूरन ब्रह्म, पुरान बखानै। चतुरानन सिव अंत न जानै।।**
**गुन-गुन अगम निगम नहिं पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै।।**

इसमें जहाँ एक ओर कृष्ण को सनातन, अविनाशी, पूर्ण ब्रह्म कहकर उनके निर्गुण स्वरूप को प्रकट किया गया है वहाँ दूसरी ओर **'ताहि जसोदा गोद खिलावै'** लिखकर उनके सगुण स्वरूप की भी सूचना दी गयी है।

**अक्षर ब्रह्म-यथा:-**

**अच्छर अच्युत अविकार है, निराकार है जोइ।**
**आदि अंत नहिं जानियत, आदि अंत प्रभु सोइ।।**

**ब्रह्म-जीव : अंशांशी-सम्बन्ध :**

**पहिलै हौं ही हो तक एक।**
**अमल, अकल, अज, भेदबिवर्जित, मुनि बिधि विमल बिबेक।।**
**सो हौं एक अनेक भाँति करि, सोभित नाना भेष।**
**ता पाछैं इन गुननि गए तैं, हौं रहिहौं अवसेष।।**

परब्रह्म श्रीकृष्ण का विराट् अन्तर्यामी एवं निर्गुण स्वरूप :

**नैननि निरखि स्याम-स्वरूप।**
**रह्यौ घट घट ब्यापि सोई, जोति-रूप अनूप।।**
**चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास।**
**सूर चन्द्र-नछत्र पावक, सर्ब तासु प्रकास।।**

सूर ने श्रीकृष्ण को त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) से महान् एवं विष्णु का पूर्णावतार माना है।

## जीव

वल्लभ-मतानुसार ही सूर ने जीव को गोपाल का अंश माना है। इस जीव को उन्होंने प्रायः अविद्या से आवृत माना है। जीवों की त्रिविध श्रेणियों के संकेत भी सूर-काव्य में मिलते हैं। सूर ने **शुद्ध** श्रेणी के जीवों के वर्णन भगवान् के नित्य लीला के सन्दर्भ और **संसारी** जीवों के वर्णन विनय के पदों में किये हैं। अविद्या माया और अज्ञान आत्मविस्मृति के कारण बताये गये हैं। यदि माया न हो तो ब्रह्म-जीव में अभेद स्थापित हो जाए। संसारी जीव भ्रम में पड़कर अनेक कष्टों और विपत्तियों का शिकार होता है- इनका वर्णन सूर ने काफी विस्तार से किया है। भगवान् की कृपा को पाकर जब संसारी जीव माया-मुक्त हो जाता है और उसमें आनन्द-अंश का आविर्भाव हो जाता है तब वह मुक्त श्रेणी में आ जाता है। भ्रम एवं अविद्या-विरहित जीव आत्म-बोध से सम्पन्न हो जाता है— **अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ।**

## जगत् और संसार

सूर ने जगत् और संसार की परिकल्पना प्रायः वल्लभ-मतानुसार ही की है। वल्लभ के अनुसार जगत् और संसार दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। जगत् सत्य है और संसार असत्य। सूर ने जगत् को गोपाल का अंश मानकर संसार का नाम तक नहीं लिया है। हाँ, उसकी उत्पत्ति ब्रह्म से बतायी है। सूर जगत् को मिथ्या मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि जिस जगत् में भगवान् का गुण-गान कर जीव तरता है, उसे मिथ्या कैसे माना जा सकता है. यथाः-

**सो जग क्यों मिथ्या कहि जाई।**
**जहाँ तरै तुम्हरे गुन गाई।।**

फिर भी सूर संसार को नश्वर मानते हैं। अनेक पदों में उन्होंने इसका प्रतिपादन किया है :-

**मिथ्या यह संसार, और मिथ्या यह माया।**
**मिथ्या है यह देह, कहौ क्यौं हरि बिसराया।।**

सूर की दृष्टि में सारे सांसारिक सम्बन्ध **बादर-छाँह, धूम-धौरहर**-जैसे अस्थिर और असत्य होते हैं। हाँ, वे तत्त्व-हीन होकर भी लुभावने अवश्य होते हैं:-

**यह संसार सुवा सेमर ज्यौं, सुंदर देखि लुभायौ।**

इस तरह, सूर जगत् और संसार के बीच सूक्ष्म भेद के कायल हैं। वे एक ओर संसार को नश्वर और मिथ्या मानते हैं तो दूसरी ओर जगत् को ब्रह्म का विराट् व्यक्त रूप।

## माया

सूर ने माया के स्वरूप और प्रभाव का वर्णन बहुत विस्तार से किया है, खासकर

विनय के पदों में। सूर ने वल्लभ के माया-विषयक सिद्धान्तों के आधार पर विद्या और अविद्या नामक उसके भेदों को अंगीकार किया है। सूर माया को ईश्वर की शक्ति मानते हैं, जो अनेक प्रकार से अपने अद्‌भुत प्रभावों की सृष्टि करती है। सूर ने अनेक पदों में अविद्या माया का चित्रण किया है :-

(क) **माधौ जू यह मेरी इक गाइ।**

(ख) **माधौ नैकु हटकौ गाइ।**

सूर ने माया-नटी के दुष्ट कार्यों का सजीव वर्णन करते हुए बताया है कि माया की यह नटी हाथ में लकुटी ले जीव को करोड़ों नाच नचाती है और लोभ के कारण (मुझे) द्वार-द्वार दौड़ाती है, नाना भाँति का स्वांग रचती है। मेरी बुद्धि को भ्रम में डालकर आपसे कपट कराती है। माया के इस चक्र में फँसा हुआ जीव हरि को भुला देता है। केवल भक्ति द्वारा ही इस माया से छुटकारा सम्भव है। इस माया ने किसका नहीं विनाश किया? नारद–जैसे ज्ञानी, शंकर–जैसे महादेव तथा ब्रह्मा जैसे प्रजापति भी इस माया के चक्कर में आ गये। समग्र सांसारिक सम्बन्ध मायाजनित हैं। माया जीव को उन सम्बन्धों के बन्धन में बाँध देती है। सूर अज्ञान और माया को अभिन्न मानते हैं। जीव अज्ञान अँधेरे के प्रभाव से पथभ्रष्ट और लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है।

विद्या माया जीव के अज्ञान-अँधेरे को दूर करने वाली है। भगवान् की कृपा से जब विद्या का उदय होता है, तो अज्ञान छँट जाता है और मैं-मेरा का भाव जाता रहता है। वह सभी को आत्मवत् देखने लगता है। सूरदास ने विद्या माया का चित्रण यों किया है :-

**नमो नमो हे कृपानिधान।**
**चितवत कृपा-कटाच्छ तुम्हारैं, मिटि गयौ तम-अज्ञान।।**
**मोह-निसा को लेस रह्यौ नहिं, भयौ बिबेक-बिहान।**
**आतम-रूप सकल घट दरस्यौ, उदय कियौ रबि-ज्ञान।।**
**मैं-मेरी अब रही न मेरे, छुट्यौ देह अभिमान।**

सूर ने राधाकृष्ण को अभिन्न मान उन्हें प्रकृति-पुरुष के रूप में सामने रखा है:-

**ब्रजहिं बसैं आपुहिं बिसरायौ।**
**प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु, बातनि भेद करायौ।।**
**जल-थल जहाँ रहौं तुम बिनु, नहिं बेद उपनिषद गायौ।**
**द्वै तन जीव एक हम दोऊ, सुख-कारन उपजायौ।।**
**ब्रह्म रूप द्वितिया नहीं कोऊ, तब मन तिया जनायौ।**

इस पद से वल्लभाचार्य के उस ब्रह्मवाद की भी पुष्टि हो जाती है, जिसमें कहा गया है कि यह सब कुछ ब्रह्म रूप है। ब्रह्म के अलावा और कुछ भी नहीं है। एक जगह तो श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा से कहा– **मेरी माया अति अगम, कोउ न पावै पार।** यह माया ब्रह्म की मोहिनी शक्ति है, जिसे **'योग-माया'** माना गया है। सूर ने यद्यपि

बहुविध माया का चित्रण किया है तथापि कुल मिलाकर उनकी इस अवधारणा पर पुष्टिमार्गी प्रभाव ही प्रधान माना जायेगा, क्योंकि दशम स्कन्ध में कृष्ण राधा और अन्य गोपियों तथा माया से उत्पन्न सांसारिक सम्बन्धों को समादृत करने की बात करते हैं।

## मोक्ष

वल्लभ-मतानुसार **मुक्ति** के चार रूप माने गये हैं— **सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य** तथा **सायुज्य मुक्ति**। सूर ने इनका सैद्धान्तिक विवेचन तो नहीं किया है, किन्तु, इन सभी मुक्तियों की श्रेष्ठ अनुभूति उनके काव्य में बखूबी पायी जाती है, जिनका प्रत्यक्ष उल्लेख उन्होंने भ्रमरगीत प्रकरण में यों किया है :

**सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौं, मुक्ति लही हम चारी।**
**हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यौ, रहति समीप सदाई[1]।**

अनेक पदों में सूर ने पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के लीला-धाम में पहुँचने की बलवती इच्छा व्यक्त की है। जैसे :-

(क) **चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम-बियोग।**
**जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ सोइ सायर सुख जोग।।**

(ख) **सुवा चलि ता बन कौ रस पीजै।**
**जा बन राम नाम अम्रित रस स्रवन पात्र भरि लीजै।।**

भगवान् के लीला-धाम में पहुँचना सालोक्य मुक्ति, उनके चरणारविंद का सान्निध्य ही सामीप्य मुक्ति, श्रीकृष्ण के साथ रहकर उन्हीं के समान आचरण करना सारूप्य मुक्ति और ईश्वर से एकात्मभाव स्थापित करने को सायुज्य मुक्ति कहते हैं। सायुज्य मुक्ति की दशा में भक्त रस-रूप भगवान् का अंग हो जाता है। सूर ने भी वल्लभ-मत की भाँति ही सायुज्य मुक्ति को सर्वोपरि माना है। भगवान् के नित्य रास का वर्णन सायुज्य मुक्ति का ही अंग माना जाता है। इस सायुज्य मुक्ति के भी दो रूप हैं—सांसारिक दुःख से मुक्ति और नित्य सुख की प्राप्ति। शृंगार रस की संयोग और वियोग की स्थितियाँ इसी सायुज्य मुक्ति के अन्तर्गत आती हैं। सूर ने एक का वर्णन रासलीला और दूसरे का भ्रमरगीत के प्रकरण में किया है। सूर अक्षर-धाम वृन्दावन के अंग बनकर उसके आनन्द की अनुभूति करना चाहते हैं। एक पद में उन्होंने वृन्दावन-रेणु होने की प्रबल कामना व्यक्त करते हुए कहा है— **करहु मोहि ब्रज रेणु, देहु बृन्दाबन बासा।** सूर ने **लयात्मक मुक्ति** का वर्णन गोपी-विरह के माध्यम से किया है। श्रीकृष्ण के प्रति सम्पूर्णः तद्गत और तल्लीन गोपियाँ तभी गहरी आत्मविस्मृति की अवस्था में पहुँचकर **दही लेहुरी** के स्थान पर **'गोपाल लेहुरी'** जैसी विलक्षण बातें करने लगती हैं।

---

1. सूरसागर छन्द 4518

इस तरह, वल्लभ-सम्प्रदायी मान्यता के मुताबिक सभी मुक्तियों का वर्णन सूर ने अपने काव्य में किया है। यही नहीं, सूर ने ब्रजभूमि, वृन्दावन धाम और गोकुल को गोलोक का अवतरित नित्य लीलाधाम मानकर अपनी साम्प्रदायिक अवधारणा की सम्पुष्टि की है। यह महाकवि जगह-जगह अपनी रचनाओं में ब्रजभूमि की महिमा का बखान करते थकता नहीं है :-

**बृन्दाबन ब्रज कौ महत, कापै बरन्यौ जाइ।**
**चतुरानन पग परसि कै, लोक गयो सुख पाइ।।**

सूर वृन्दावन को वैकुण्ठ से बढ़कर मानते हैं। वृन्दावन से वेणु-वादन की ध्वनि जब वैकुण्ठ पहुँचती है तो वहाँ रहनेवाले दम्पति नारायण और कमला दोनों बड़े उत्फुल्ल चित्त से उसका स्वागत कर पूरे ब्रज-जीवन का गुणानुवाद करने लगते हैं:

**मुरली-धुनि बैकुंठ गई।**
**नारायन-कमला सुनि दम्पति, अति रुचि ह्रदय भई।।**
**सुनौ प्रिया यह बानी अद्‌भुत, बृन्दाबन हरि देखौ।**
**धन्य-धन्य श्रीपति मुख कहि-कहि, जीवन ब्रज को लेखौ।।**

## रासलीला

वृन्दावन की भाँति ही सूर ने रास की भी आध्यात्मिक भूमिका स्वीकार की है। रासलीला लीला-वर्णन का सर्वोपरि सोपान है। तत्कालीन प्रायः सभी कृष्ण-भक्ति के निम्बार्क, चैतन्य, राधा-वल्लभ, हरिदासी आदि सम्प्रदायों ने रासलीला को अपने यहाँ स्थान दिया है। कथासूत्र की दृष्टि से सूर ने इसकी रचना **भागवत** के **रासपंचाध्यायी** के आधार पर की है, किन्तु उसमें अपनी तरफ से माधुर्य भाव का ऐसा सरस और मौलिक रंग घोला है, जिससे वह हमेशा के लिए ह्रदयहारी हो गया है। ऐसे वर्णनों में सूर की अगाध मौलिकता के दर्शन होते हैं। कवि इतनी तन्मयता से रास-रस का चित्रण करता है कि तृप्त होने का नाम ही नहीं लेता। रास-लीला के वर्णन में लौकिक एवं पारलौकिक भावों का मणिकांचन संयोग हुआ है। रास के विधायक उपकरण राधा, कृष्ण, गोपी, मुरली, वृन्दावन आदि की नित्यता का उद्‌घोष भी कवि बारंबार करता हुआ नज़र आता है। रास-लीला की सूत्रधारिणी मुरली को लौकिक और अलौकिक तत्त्वों से परिपूर्ण माना गया है। कहना न होगा कि इसी रासलीला में भाग लेना सूर की साधना का सर्वोपरि उद्देश्य है। इसी स्थिति को सूर ने सबसे बड़ी मुक्ति का दर्जा दिया है। यह रास ऐसा अद्‌भुत और विलक्षण है कि वेद, सुर, नर, मुनि, शिव आदि इस रास-रस की अंश-कला मात्र को भी नहीं पा सकते। उसका लोकोत्तर प्रभाव चेतन और अचेतन दोनों प्रकार की प्रकृति पर पड़ता है:-

### रास-प्रभाव

उलटी जमुना धार बहायौ।
सुनि धुनि चंचल पवन थकायौ।।
सुर नर मुनि कौ ध्यान भुलायौ।
चन्द्र गगन मारग बिसरायौ।।

### रासलीला-नित्यता :

नित्य धाम बृन्दाबन स्याम।
नित्य रूप राधा ब्रजधाम।।
नित्य रास, जल नृत्य बिहार।
नित्य मान खण्डिताऽभिसार।।
ब्रह्मरूप एही करतार।
करनहार त्रिभुवन संसार।।
नित्य कुंज-सुख नित्य हिंडोर।
नित्य त्रिबिध समीर झकोर।।

निष्कर्ष यह है कि सूर ने अपने तात्त्विक विचारों में मौलिकता के साथ निर्भीकता का भी परिचय दिया है।

# भाव-भक्ति

भक्ति का सुगम अर्थ है भगवान् की सेवा या आराधना करना। किन्तु, मानसिक दृष्टि से ईश्वर के प्रति पूर्ण या परम अनुरक्ति को ही भक्ति कहते हैं—**सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे।** यही नहीं, उसे **परमप्रेमरूपा** तथा **अमृतस्वरूपा** भी कहा गया है। आचार्य वल्लभ के अनुसार— **भगवान् के माहात्म्य-ज्ञान से संवलित, भगवान् में सुदृढ़ एवं सर्वातिशायी स्नेह भक्ति कहलाता है, जिससे ही मुक्ति सम्भव है।** इस प्रकार की भक्ति की पाँच सीढ़ियाँ बतायी गयी हैं, जिनमें सर्वोच्च सीढ़ी माधुर्य की है— शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। शान्त भक्ति वही है, जब हम तत्त्वबोध से अपने को जान जाते हैं। यह भक्ति, भक्ति की अन्य भूमिकाओं से होती हुई अन्त में माधुर्य भक्ति का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। सूरदास के भक्तिभाव को अच्छी तरह से मनोगत करने के लिए आवश्यक है कि हम भक्ति की इन पाँचों भूमिकाओं को भलीभाँति जान लें। जब हम भगवान् के प्रति अनन्य निष्ठा से पेश आते हैं, तब शान्त, जब हम उसके प्रति अनन्य सेवा-भाव रखते हैं, तब दास्य, जब हम उसके साथ सखा-सुलभ असंकोच भाव से व्यवहार करते हैं, तब सख्य, जब हम उसे शिशुरूप में लालने-पालने का भाव रखते हैं, तब वत्सल और जब हम उसके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर देते हैं, तब माधुर्य भाव-भक्ति की प्रमुख पहचान बनती है। स्वयं को पत्नी और भगवान् को पति माननेवाला दाम्पत्य-रतिभाव माधुर्य-भक्ति की एक विशिष्ट विशेषता है। माधुर्य-भक्ति **कामरूपा** भी मानी गयी है।

भागवत मात्र वल्लभ-सम्प्रदाय का ही नहीं, उस समय पूरे ब्रज-क्षेत्र में जितने भी कृष्णानुरागी सम्प्रदाय प्रतिष्ठित थे, उन सभी का प्रेरक स्रोत था। भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण की भक्ति सर्वश्रेष्ठ धर्म है। ऐसी भक्ति को हर प्रकार से निष्काम होना चाहिए और नित्य निरन्तर उसे बनी भी रहना चाहिए। भक्त-हृदय ऐसी भक्ति से उस आनन्दस्वरूप भगवान् को पाकर कृतकृत्य हो उठता है :-

**स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।**
**अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति।।**[1]

भागवत में, भक्ति के तीन स्वरूप मिलते हैं—विशुद्ध भक्ति, नवधा भक्ति तथा प्रेमाभक्ति। इस ग्रन्थ में भक्ति के साधन और साध्य दोनों रूपों का विशद विवेचन हुआ है। एकाग्रचित्त हो भगवान् का नित्य निरन्तर श्रवण, कीर्तन और आराधन करना भक्ति का साधन तथा प्रभु में परानुरक्ति उसका साध्य पक्ष है। साधनरूपा भक्ति के अपर नाम हैं— **नवधा भक्ति, वैधी भक्ति** तथा **मर्यादा भक्ति**। इसी प्रकार, साध्यरूपा के दूसरे नाम हैं— **रागानुगा भक्ति, प्रेमाभक्ति** तथा **रागात्मिका भक्ति**। भागवत में

---

1. भागवत, 1-2-6

भक्ति के चार प्रकार बताये गये हैं-**सात्त्विका भक्ति, राजसी भक्ति, तामसी भक्ति** तथा **निर्गुण भक्ति। 'नारदभक्तिसूत्र'** में **प्रेमा भक्ति** की ग्यारह आसक्तियों का उल्लेख मिलता है—**गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति तथा परमविरहासक्ति।**

मात्र भागवत की ही नहीं, अन्य अनेक पुराणों की कृष्ण-कथाएँ भी भक्तों में प्रचलित थीं। उदाहरण के लिए राधा का स्पष्ट उल्लेख भागवत में कहीं नहीं हुआ है। हिन्दी के भक्ति साहित्य में राधातत्त्व का ग्रहण **ब्रह्मवैवर्त्त** और **पद्मपुराण** से किया गया है। श्री राधा को गौड़ीय सम्प्रदाय में भगवान् की **आह्लादिनी** शक्ति माना गया है। यही नहीं, महाप्रभु गौरांग (चैतन्यदेव) को राधा-कृष्ण का संयुक्त अवतार तक माना जाता है। वल्लभसम्प्रदायी मान्यता के अनुसार भगवान् की तीन शक्तियाँ हैं— **सर्वभवन-सामर्थ्य, मोहिनी** और **क्रिया**। इनमें प्रथम शक्ति का तात्पर्य यह है कि भगवान् में सब कुछ हो जाने की सामर्थ्य है। **मोहिनी व्यामोहिका शक्ति** इसलिए कहलाती है, क्योंकि वह **चिदंश** का व्यामोहन करती है। **क्रिया** से तो कार्य व्यापार की स्थिति स्पष्ट ही है। ध्यातव्य है कि सूर के दीक्षागुरु वल्लभाचार्य अपनी रचनाओं में राधा का उल्लेख कहीं स्पष्ट ढंग से नहीं करते। अपनी **'सुबोधिनी'** टीका में मात्र इतना लिखा है कि राधा भगवान् की **राधस** नाम की **सिद्धि** और **शक्ति** दोनों हैं, जिसके साथ भगवान् अपने परम धाम में रमण करते हैं। कहा जाता है कि गोसाईं विट्ठलनाथ ने पहली बार राधा-तत्त्व को अपने सम्प्रदाय में मान्यता दी। लेकिन, वस्तुस्थिति यह है कि राधा-तत्त्व को अपने सम्प्रदाय में सर्वप्रथम स्थान देनेवाले स्वयं आचार्य वल्लभ ही थे, क्योंकि उन्होंने अपने **'पुरुषोत्तम सहस्रनाम'** में रसरूप श्रीकृष्ण का स्मरण माधुर्यरूपा राधा के साथ अनन्यभाव से किया है और **'श्रीकृष्णप्रेमामृत'** में तो कृष्ण के लिए **'राधिकारतिलम्पटः'** जैसे विशेषण का व्यवहार भी किया है।

स्वरूप-भेद की दृष्टि से सूर साहित्य में दो तरह की भक्ति पाई जाती है। एक तो वही है, जब वे वल्लभसम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हुए थे तब विनय के पदों को गाकर दास्य-भाव की भक्ति किया करते थे और दूसरी वह जब उन्होंने बाकायदा आचार्य वल्लभ से दीक्षा ग्रहणकर पुष्टिमार्गीय भक्ति को अंगीकार किया।

बात यह थी कि सूर-तुलसी-जैसे लोक-मंगल के अनन्य विधायक आराधकों को पहले से कबीर आदि नाना प्रकार के सन्तों द्वारा प्रचारित चली आ रही निर्गुणोपासना रास न आई। इसलिए, इन सगुणमार्गी भक्त कवियों ने निर्गुण-मत का विरोधकर सगुण मत का पथ प्रशस्त किया। अपने बहुत से पदों में सूर ने बहुत तरह से निर्गुण मत का खण्डन करते हुए सगुण मत का मण्डन किया है। इसलिए, सूर का कहना है कि चूँकि निर्गुण ब्रह्म **रूप-रेख-गुन-जाति** आदि बातों से विहीन होता है, इस कारण साधक का निरालम्ब मन चकित हो इधर-उधर भटकने के लिए विवश होता है। तात्पर्य यही कि उपासना के लिए उपास्य में रूपःस्वरूप का होना आवश्यक है। सूर ने अपने **भ्रमरगीत**

में नाथपंथी योगियों के साथ कबीर की भी खूब खबर ली है। चूँकि सूर अत्यन्त गम्भीर प्रकृति के कवि थे, इसलिए वे ऐसा करते समय बहुत मुखर नहीं होते। एकान्तभाव से अपने सगुण उपास्य के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित शिरोमणि भक्त सूरदास अपने प्रभु से विनय के पदों में अकसर स्वामी-सेवक के साथ कभी सखा-भाव की भक्ति भी करते प्रतीत होते हैं। उनके विनय के पदों की भक्ति को **'विनय-भक्ति'** और उनकी वल्लभसम्प्रदायी भक्ति को **'पुष्टि-भक्ति'** कह सकते हैं।

## विनय-भक्ति

सूर के विनय के पदों के **पर्यालोचन** से ऐसा प्रतीत होता है कि वे सांसारिक प्रपन्च में उलझानेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से मुक्त होकर सचाई के निर्मल स्वरूप से सम्मुखीन होना चाहते हैं। इनके रहते न तो भक्त अपने को पहचान पाता है और न प्रभु को। एक पद में उन्होंने कहा है कि हमने आत्मस्वरूप को स्वयं उसी तरह भुला दिया है जैसे शीश-महल में बन्द कुत्ता अपनी परछाईं चारों तरफ के शीशों में देख भटक-भटककर भूकता हुआ मर जाता है आदि; वैसे मनुष्य भी अपने अज्ञान के कारण संसारी जीवन में भूल-भटककर कष्ट पाता हुआ समाप्त हो जाता है:-

**अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ।**
**जैसें स्वान काँच मन्दिर मैं भ्रमि भ्रमि भूकि पर्यौ।।**

**विनय-भक्ति** के पदों में कवि ने बारंबार विषयासक्ति को भक्ति-मार्ग की भारी बाधा के रूप में तरह-तरह से चित्रित किया है। यही नहीं, सूर ने अपने पदों में **माया नटी** या **माया मोहिनी** के प्रभाव से छुटकारा पाने के लिए हरि से नम्र निवेदन भी किया है। माया को हरहट (हरही) गाय के रूप में वर्णित करते हुए कवि ने कहा है— **हे माधव! तनिक गाय को रोको। रात-दिन यह पथ-कुपथ का विचार किए बिना बराबर घूमती ही रहती है। पकड़-धकड़ के बाहर है चूँकि इसका मिजाज (प्रकृति), इसलिए, कतई पकड़ में आती ही नहीं:-**

**माधौ नैकु हटकौ गाइ।**
**भ्रमत निसि बासर अपथ पथ अगह गहि नहिं जाइ।।**

इनके अतिरिक्त, सूर अपनी **विनय-भक्ति** के अन्तर्गत अपने तरह-तरह के दोषों को दिखाते हुए जहाँ एक ओर संसार की असारता और अपनी पराकाष्ठा की दीनता-हीनता को सामने लाते हैं वहाँ दूसरी ओर वे उस परम प्रभु की अहैतुकी कृपा और शरणागतवत्सलता के भाव को ध्यान में रखकर उनके चरणों के प्रति उत्कट अनुराग-भाव का अर्घ भी अर्पित करना कभी नहीं भूलते। इस दृष्टि से सूर के विनय के पद तुलसी की **विनय-पत्रिका** के पदों के समकक्ष बड़ी आसानी से रखे जा सकते हैं। यद्यपि दोनों महाकवियों के ऐसे पदों में चरम सीमा के दैन्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है तथापि तन्मयताजन्य मार्मिकता की दृष्टि से सूर तुलसी से कुछ बढ़कर माने जा सकते हैं।

कहने का तात्पर्य यही कि सूर की **विनय-भक्ति** का फलक काफी बड़ा है। उसमें वैष्णव आचार्यों द्वारा मान्य दीनता, मानमर्षता, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य तथा विचांरणा—जैसी भक्ति की सात भूमिकाओं का भी सम्यक् समावेश हुआ है।

## पुष्टि-भक्ति

जिसे हम **पुष्टिमार्ग** कहते हैं, उसके प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य थे। सिद्धान्त की दृष्टि से उनके द्वारा प्रतिपादित मत को **शुद्धाद्वैतवाद** कहा जाता है। साधन के विचार से वल्लभाचार्य का यह मत **पुष्टिमार्ग** कहलाता है। **पुष्टि** का अर्थ **'पोषण'** होता है और **'पोषण'** भगवान् के अनुग्रह को कहते हैं— **पोषणं तदनुग्रहः**। इसमें भगवान् के अनुग्रह या कृपा को सर्वोपरि महत्त्व इसलिए दिया जाता है, क्योंकि उस (भगवान्) का अनुग्रह ही वह साधन है, जिससे भक्ति सिद्ध होती है। इसलिए, कोई पुष्टिमार्गीय भक्त भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर होता है। भगवान् जीव पर अनुग्रह कर उसे अपने ही समान आनन्दमय बना देता है। **मुक्ति** इसी आनन्दमयी स्थिति की प्राप्ति को कहते हैं। इस **मुक्ति** को पाने का एकमात्र साधन **भक्ति** ही होती है। वल्लभाचार्य दो प्रकार की भक्ति मानते हैं—**मर्यादा-भक्ति** और **पुष्टि-भक्ति**। मर्यादा-भक्ति जहाँ फलासक्ति-सहित वहाँ पुष्टि-भक्ति पूर्णतः फलाकांक्षा-विरहित होती है। इसी प्रकार, मर्यादा-भक्ति जहाँ प्रभु चरणारविन्द और दैन्यभाव की भक्ति मानी जाती है वहाँ पुष्टि-भक्ति मुखारविन्द और कान्ताभाव की। पुष्टि-भक्ति के चार स्तर माने गये हैं- **प्रवाह-पुष्टि, मर्यादा-पुष्टि, पुष्टि-पुष्टि** और **शुद्धपुष्टि**। प्रवाह-पुष्टि की स्थिति में भक्त भगवान् से कृपा-याचना करता है, मर्यादापुष्टि में भक्त सभी सांसारिक सुखों से विरत हो कीर्तनादि के माध्यम से भगवान् की भक्ति करता है, पुष्टि-पुष्टि में वह प्रभु की कृपा-प्राप्ति के पश्चात् भी भक्तिसाधन में संलग्न रहता है और शुद्ध पुष्टि की अवस्था में भक्त भगवान् की लीलाओं से अपना मानसिक तादाम्य स्थापित कर लेता है। यही पुष्टि पुष्टिमार्गीय भक्ति की सर्वोच्च सीमा है।

सूर की ऐसी रचनाओं के अनुशीलन से पता चलता है कि उन्होंने पुष्टिमार्गीय भक्ति की मान्यताओं को अपनी रचनाओं में ज्यों का त्यों स्थान न देकर उन्हें परोक्ष रूप में ही व्यञ्जित किया है। ऐसा करने से उनकी काव्य-मर्यादा में बढ़ोतरी हुई है। सागर—जैसी विशाल और विस्तृत उनकी रचना सूरसागर में पुष्टि पद का एक बार भी कहीं उल्लेख न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे जान-बूझकर ऐसा करना चाहते थे। किसी सिद्धान्त या मान्यता का प्रत्यक्ष कथन हमेशा काव्य-रचना में ख़लल पैदा करता आया है। इस दृष्टि से हमें सूर के सजग काव्य-दृष्टिकोण की सराहना करनी पड़ती है। अपने समय में **पुष्टिमार्ग का जहाज** नाम से प्रख्यात सूर ने पुष्टि और उसकी तमाम बातों को एकदम अछूता छोड़ दिया, ज़रूर ऐसा किसी निश्चित मन्तव्य से किया गया जान पड़ता है। लेकिन, इतना तो निश्चित है कि पुष्टिमार्गीय भावनाओं का, परोक्षरूप में ही सही, उनकी रचनाओं में सविधि समाहार हुआ अवश्य है।

वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् तो सूरदास का पुष्टिमार्गी होना एक सहज बात थी, किन्तु, उसके पूर्व की उनकी रचनाओं में भी पुष्टिमार्गीय विचारधारा की झलक मिलती है। **जा पर दीनानाथ ढरैं, जाकौ दीनानाथ निवाजै** आदि पदों में हरि के अनुग्रह को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। वल्लभ ने गोपी-प्रेम को प्रेम-लक्षणा भक्ति का आदर्श माना है। इन गोपियों की श्रेणियाँ तीन हैं— **गोपांगना, गोपी** और **ब्रजांगना**। गोपांगनाएँ वे हैं, जिन्होंने 'लोक-वेद' के भय से दूर रहकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का साक्षात् रूप में भजन किया है। उन्हें पुष्टि-पुष्टि कहा गया है। इनमें परकीया-भावासक्ति का भाव प्रधान होता है। इनके स्वरूप का एक उदाहरण द्रष्टव्यः-

**काके पति सुत मोह कौन कौ, घर ही कहा पठावत।**
**कैसौ धर्म, पाप है कैसौ, आस निरास करावत।।**
**हम जानैं केवल तुमहीं कौं, और बृथा संसार।**

दूसरी श्रेणी में वे अविवाहिता गोपियाँ आती हैं, जिन्होंने कात्यायनी आदि व्रतों को कर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का परोक्षरूप से भजन किया है। ये मर्यादा-पुष्टि का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनकी भक्ति स्वकीया भावरूपिणी होती है। **रासलीला** से इन्हें अभीष्ट सुख की प्राप्ति हुई। ऐसी गोपियों का परोक्ष प्रेम चीरहरण-लीला के समय उभरकर सामने आया है :-

**हमहिं होहु दयाल दिनमनि, तुम बिदित संसार।**
**काम अति तनु दहत दीजै, सूर हरि भरतार।।**

तीसरी श्रेणी में आनेवाली ब्रजांगनाएँ वे हैं, जिन्होंने लोकवत् वात्सल्यभाव से भगवान् का भजन किया है और जिनकी भक्ति को प्रवाह-पुष्टि कहा गया है। इस भावना के वर्णन में सूर की वृत्ति विशेषरूप से रमी है। जगह-जगह ऐसे वर्णनों में नन्द-यशोदा के वात्सल्यभाव के साथ सूर का अपना भी वत्सल भाव तरंगित हो उठा है। यथा :

**कहौं कहौं कछु कहत न आवै, औ रस लागत खारौ री।**
**इनहि स्वाद जो लुब्ध सूर, सोइ जानत चाखन हारौ री।।**
**जो रस नन्द-जसोदा बिलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।**
**भोजन करि नँद अचमन लीन्हौं, माँगत सूर जुठनियाँ।।**

कहना न होगा कि सूर का समग्र साहित्य इसी गोपी-भाव का लहराता सागर है। इनकी शेष दो (मर्यादा तथा पुष्टि) श्रेणियाँ सह्रदय भावुकों की साधना-मार्ग हैं। माधुर्य भाव का उदय तीसरी (पुष्टि-पुष्टि) अवस्था में होता है। इस प्रकार, वात्सल्य, दाम्पत्य और माधुर्य तीनों भक्ति भावों की प्रतिष्ठा वल्लभसम्प्रदाय में हुई है। सूरसाहित्य में भी इन सभी भावों की बखूबी व्यञ्जना हुई है।

स्वयं वल्लभाचार्य ने **मधुराष्टक, सुबोधिनी** आदि अपनी रचनाओं में मधुर भावों का विशद चित्रण किया है। आचार्य वल्लभ को जहाँ उनके सम्प्रदाय में कृष्ण का अवतार माना गया है वहाँ सूरदास को कृष्ण-सखा का। फिर, सूर को **चम्पकलता** का रूप भी माना गया है। सूर के इस प्रगाढ़ माधुर्यभाव को देखकर कुछ समीक्षकों ने उन पर गौड़ीय, हरिदासी या राधावल्लभी प्रभावों के पड़ने की जो बात की है, वह निराधार है। सचाई यही है कि सूर द्वारा वर्णित समग्र माधुर्यभाव का सीधा सरोकार पुष्टिमार्ग से ही है।

निष्कर्ष यह कि सूर काव्य में कृष्ण-लीलाओं के अन्तर्गत शृंगार और विलास के जो बहुशः उद्दीप्त चित्र मिलते हैं, उनके माध्यम से कवि मानवीय विषय-विलास की वृत्तियों का उन्नयन करना चाहता है। अपने एक पद में कवि ने ऐसा संकेत करते हुए बताया है :-

**तुम्हरी एक बड़ी ठकुराई।**
**प्रति दिन जन जन कर्म सबासन नाम हरै जदुराई।।**
**कुसुमित धर्म कर्म कौ मारग जउ कोउ करत बनाई।**

अर्थात् (हे भगवान्) तुम्हारी यह सबसे बड़ी प्रभुता है कि नित्य प्रति प्रत्येक व्यक्ति के वासनात्मक (सबासन) कर्मों को यदुनाथ कृष्ण का नाम हर लेता है। यदि किसी से करते-धरते बने तो धर्म-कर्म का मार्ग फूलों की शय्या के समान सुखद होता है।

अथ से इति तक सूर की भक्ति का मूलाधार प्रेम-तत्त्व ही जान पड़ता है। प्रेमाभक्ति, इसलिए, उनकी सर्वोपरि साध्य वस्तु ठहरती है, जिसके महत्त्वाख्यान में उन्होंने बताया है :

**प्रेम प्रेम ते होइ, प्रेम ते पारहि पइये।**
**प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ लहिये।।**
**एकौ निश्चय प्रेम कौ, जीवन मुक्ति रसाल।**
**साँचौ निश्चय प्रेम कौ, जेहि रे मिले गोपाल।।**

इस प्रकार, सूर को हम पुष्टिमार्ग का व्याख्याता भी कह सकते हैं। पुष्टिमार्ग की सेवा-पद्धति की दृष्टि से सूर ने अपने पदों में गुरु-सेवा, सन्त-सेवा औंर प्रभु-सेवा की बातें बहुत तरह से बहुत बार की हैं। कहीं-कहीं क्रियात्मक सेवा के उल्लेख में वित्तजा और तनुजा सेवाओं की भी चर्चा की गयी है। और भावात्मक या मानसी सेवा के तो सूर अग्रदूत कहे जा सकते हैं।

पुष्टिमार्गीय सेवापद्धति के विचार से तो सूर ने राधा-कृष्ण की अठ पहरी सेवा-मंगला, शृंगार, ग्वाल-भोग, राजभोग, उत्थापन, सान्ध्य आरती आदि की नित्य नयी-नयी झाँकियाँ ही सजायी हैं। सूर के समग्र लीला-वर्णन में कृष्णासक्ति का स्थान सर्वोपरि

है। यह आसक्ति उन्हें बराबर तल्लीन बनाये रखती है। इन लीलाओं के वर्णन में उन्होंने लोक-रुचि का भी ध्यान रखा है। अतएव, कहना पड़ता है कि सूर ने वल्लभसम्प्रदाय की समग्र मान्यताओं को लेकर काव्य का एक ऐसा रसीला पुटपाक तैयार किया है जो आज तक हमारे मानसमंगल का विधान करता चला आ रहा है।

निचोड़ यह कि सूर के भक्ति-काव्य में भागवत-भक्ति के सभी रूपों के वर्णन मिल जाते हैं। लेकिन, उनके ऐसे वर्णनों में उनकी मौलिकता के साथ तत्कालीन परिस्थितियों की परछाईं भी यहाँ-वहाँ दिख जाती है। इनके अतिरिक्त, शताब्दियों पूर्व से चली आ रही लोकगीतों की प्रचलित परम्परा की झाँकी भी उनके प्रगीति भक्ति-काव्य में देखने को मिलती है। भक्ति, वास्तव में, सूर की अन्तश्चेतना की देन थी। उनके भक्ति के पदों में हास्य, व्यंग्य, विनोद के छींटे भी मिल जाते हैं। उनके संगीत ने भी उनके भक्ति-गीतों को विधिवत् सँवारा है।

# सौंदर्य-संचेतना

सौन्दर्य के रूप-स्वरूप के बारे में पूर्वी और पश्चिमी मनीषियों ने अपने विचार तरह-तरह से प्रकट किये हैं। भारत में रस-भाव की जो महिमा है, पश्चिमी साहित्य में वही सौन्दर्य का महत्त्व है। सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए किसी ने उसे वस्तुनिष्ठ, किसी ने व्यक्तिनिष्ठ माना तो किसी ने उसका सम्बन्ध नैतिकता और मंगलमयता से जोड़ा है। कोई और तो उपयोगिता में ही सौंदर्य के दर्शन करता है। किसी ने कहा है कि " केवल अद्वैत सिद्धान्त ही सौंदर्य की समुचित मीमांसा कर सकता है।"[1] इसी के समानान्तर भारत में माना गया है कि "अस्तित्व, दीख पड़ना, आनन्द या सौन्दर्य, रूप और नाम, इन पाँचों में आरम्भ के तीन ब्रह्मरूप और शेष दो जगत्‌रूप हैं। "[2]

सौन्दर्य का साहित्यिक मूल्य उसके दार्शनिक मूल्य से कम नहीं है। कारण यही है कि रस जैसे भोक्ता के अधीन होता है वैसे सौन्दर्य भी विषयी (प्रमाता) के आश्रित रहता है। आनन्द को दोनों ही अपना परम लाभ मानते हैं, जिसका पोषण ह्यूम के इस अभिमत से भी होता है-"सौन्दर्य वस्तुओं का स्वभाव-संजात गुण ही नहीं, बल्कि उसकी चिन्ता करने वाले चित्त में ही उसका अस्तित्व है।"[3]

प्रसिद्ध सौन्दर्य–समीक्षक किरीट का मानना है कि "समग्र सौन्दर्य उसकी ही अभिव्यक्ति है, जिसे हम साधारणतः भाव या इमोशन कहते हैं। इस प्रकार, सारा प्रकाशन ही सुन्दर है।"[4]

इस दृष्टि से सौंदर्य और रस अभिन्न हो जाते हैं। कारण यह कि चित्र आदि ललित कलाओं में जिस भाव की अभिव्यक्ति की जाती है काव्य में भी उसी भाव के दर्शन होते हैं। दोनों ही दशाओं में सौन्दर्य-लीन आनन्द प्रयोजन-रहित होता है।

प्राच्य आचार्य कुंतक और पाश्चात्य पण्डित क्रोचे इस विषय में एकमत प्रतीत होते हैं कि सौन्दर्य एक सफल अभिव्यंजना है और चूँकि अभिव्यंजना एक ही हो सकती है, इसलिए, उसमें उत्तम, मध्यम आदि स्तरगत कोई भेद मान्य नहीं हो सकता

---

1. Only a pantheistic theory of the universe can do full Justice to the beautiful. Knight's Philosophy of the Beautiful.)
2. अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्। आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।।
   काव्य-दर्पण, पृ0 78 से उद्धृत
3. Beauty is no quality in things themselves; but it exists in the mind which contemplates them.
4. All beauty is the expression of what may be generally called emotion and what all such expression is beautiful. The theory of beauty.

है।[1] कहना न होगा कि आधुनिक हिन्दी के तत्त्वदर्शी महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' भी ऐसा मानते हुए कहते हैं कि रूप-दर्शन तो नेत्र करते हैं, लेकिन, उस दृष्ट दृश्य की धारणा हृदय ही करता है। इस आधार पर वे सौन्दर्य के मूर्त-अमूर्त स्वरूप को नकारते हुए मानते हैं कि दृष्ट दृश्य के अतिरिक्त जो वायु तथा अन्तरिक्ष अमूर्त दृश्य हैं, उनकी भी अनुभूति हृदय ही करता है।[2]

भारतीय दृष्टि से रमणीयता भी सौन्दर्य की पर्यायवाची है, क्योंकि दोनों के उपादान और साधन समान है। पण्डितराज जगन्नाथ जब रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य मानकर रमणीयता की मीमांसा करते हुए यह कहते हैं कि "अलौकिक आनन्द का ज्ञानगोचर (अनुभूति) होना" ही रमणीयता है, तब दोनों में अभेद स्थापित होता है।[3]

बारीकी से विचाार करने पर प्रतीत होता है कि सौन्दर्य (सुन्दर) शब्द हमें मुग्ध कर तात्कालिकरूप से आनन्दानुभव कराने का सामर्थ्य तो अवश्य रखता है, किन्तु उसमें मन को रमाये रखने का वह माद्दा हमेशा नहीं होता है, जो हृदय पर स्थायी (सनातन) प्रभाव डालकर उस (सौन्दर्य) के प्रति एक ऐसी उत्कट प्यास बराबर बनाये रखे, बारंबार पीते रहने के बावजूद भी जिसकी लालसा कभी संतुष्ट होने का नाम ही न लेती हो। सौन्दर्य मात्र आकर्षण उत्पन्न कर रह जाता है, जबकि रमणीयता इससे आगे बढ़कर मन को सतत् रमाने का ऐसा प्रगाढ काम करती है कि द्रष्टा दृश्य को जितना अधिक देखता है उतनी ही अधिक उसे और-और निहारने की ललक बढ़ती जाती है-**"त्यों-त्यों प्यासेई रहत ज्यों-ज्यों पीवत और।"** सच्चे या आदर्श सौन्दर्य की एक बड़ी पहचान उसके प्रति अतृप्ति-भाव का होना भी होता है[4]। महाकवि कीट्स का यह कथन भी इसी का समर्थन करता है कि "इसका सम्मोहन-भाव बढ़ता ही जाता है"।[5] अष्टछाप के सशक्त हस्ताक्षर नन्ददास ने भी यह माना है कि जिसे देखकर तृप्ति न हो वह सुन्दरता है। इतना ही नहीं, वे अनूप रूप उसी को मानते हैं जिसका स्वरूप अकृत्रिम और सहज हो[6] । उनकी दृष्टि में रमणीय रूप वह है जिसे

1. क-नच रीतिनामुत्तमाधममध्यमभेदेन त्रैविध्यं व्यवस्थापयितुं न्यायम्। वक्रोक्तिजीवित।।
   ख-The beautiful does not possess degrees for there is no conceiving more beautiful, that is an expressive that is more exprssive, an adequate that is more adequate. Aesthetics.
2. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1 पृ0 943, द्वि0 संस्क0
3. क-रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।
   ख-रमणीयता च लोकोत्तराह्लादज्ञानगोचरता।। रसगंगाधर।
4. क-जनम अवधि हम रूप निहारल, नयन न तिरपित भेल। विद्यापति।।
   ख-ज्यों-ज्यों निहारिय नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निखरै सी निकाई। मतिराम
.5. Its loveliness increases, it will never pass into nothingness.
6. बिनु भूषन भूषित अँग जोई। रूप अनूप कहावै सोई।।
   निरखत जाहि तृपति नहिं आवै। तन में सो माधुरी कहावै।।

देखकर यह लगे कि ऐसा अपूर्व रूप पहले कभी भी नहीं देखा है[1]।

चूँकि रमणीय रूप क्षण-क्षण में नवीन होता रहता है,[2] इसलिये, वह अतृप्ति-जनक और अनिर्वचनीय ही नहीं, बड़े कलाकार की पकड़ के बाहर की वस्तु भी होता है[3]। इस प्रकार, संक्षेप में कह सकते हैं—मनोविज्ञान की दृष्टि से सौन्दर्य का मूलतत्त्व सामंजस्य है। यह सामंजस्य पहले वस्तु के विभिन्न अंगों में होता है, फिर वस्तु और व्यक्ति के मन अर्थात् भाव के बीच। वस्तु के विभिन्न अंगों का सामंजस्य, अनुक्रम, अनुपात दूसरे शब्दों में वस्तुगत सौन्दर्य कहलाता है, और वस्तु और भाव का सामंजस्य (भावगत सौन्दर्य) ही वह "अनिर्वचनीय" कुछ है जो भिन्न-भिन्न प्रकार की शब्दावली द्वारा व्यक्त किया गया। इस दृष्टि से रूप सौन्दर्य का वह पक्ष है जो नेत्रों के माध्यम से मन का प्रसादन करता है- यह शब्द प्रायः मानव-शरीर के सौन्दर्य के लिये ही प्रयुक्त होता है[4]। मानवीय रूपांकन के समय, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अंग-सौष्ठव के सामंजस्य, अनुक्रम, अनुपात आदि गुणों पर काफी ध्यान देते हुए नन्ददास ने लिखा है:—

**"सब अँग सुमिल सुठौनि सुहाई।**
**सो कहिए तन सुन्दरताई।।"**

सूर विराट् काव्य-चेतना के महाकवि है। उनका मानस काव्य के उदान्त और मधुमय स्वरूप का अधिष्ठान प्रतीत होता है। विशुद्ध काव्यमयता की दृष्टि से सूर का काव्य अपना सानी नहीं रखता। यहाँ तक कि कोई भक्ति-विसंगी पाठक भी उनके काव्य का भरपूर आनन्द ले सकता है।

कहना न होगा कि उनके काव्य को ऐसी महिमा प्रदान करने में उनकी सौंदर्य-संचेतना का प्रमुख हाथ है। सूर मानवी सृष्टि के अंतः और बाह्य का अत्यंत प्राणद और सफल रेखांकन करने वाले अनूठे और अद्वितीय कलाकाार हैं। संरचना के समय उनकी सौंदर्य-संचेतना श्लथ होने के बजाय आगे बढ़ते जाने का हौसला रखती है। सूर, चूँकि, अपने परम आराध्य कृष्ण को रसाधिष्ठान रसेश्वर मानते हैं, इसलिए, वे उनके समग्र परिकरमण्डल का अत्यंत तन्मनस्क, आसक्तिमय और आत्मविभोर सौंदर्यांकन करते हैं।

सौंदर्य भला किसे नहीं अपने पास बुला लेता और आराध्य की रूपासक्ति तो आराधक की आराधना का एकमात्र अवलंब होती है। रूपासक्ति ही भक्त की खुराक

---

1. देखत अनदेखी सी जोई। रमनीयता कहावै सोई।।
   सब अँग सुमिल सुठौनि सुहाई। सो कहिए तन सुन्दरताई।।
2. क्षणेक्षणे यन्नवतामुपैतितदेवरूपं रमणीयतायाः-माघ
3. लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
   भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।।-विहारी
4. देव और उनकी कविता, डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 95

होती है। इसलिए, भक्त कवियों ने भगवान् के रूप की जो बारंबार रट लगाई है वह शायद रोज़-रोज़ की खुराक़ होने के कारण ही। "सूरसागर" में आद्योपांत पग-पग पर सूर ने अपने आराध्य कृष्ण के रूप की एक से एक बाँकी झाँकी पेश की है। कवि द्वारा अंकित यह छवि, लगता है, ऐसी हरी-भरी लता है, जो दृश्य के दर्शन मात्र से द्रष्टा के दृष्टि-आलवाल में फौरन फैलकर प्रभावित करने लगती है। कृष्ण पूर्णावतार भगवान् हैं, इसलिए, लोकातिशय सौन्दर्य के आलंबन भी हैं। उनका यह दिव्य सौन्दर्य गोपियों या ब्रज के सभी छोटे-बड़े आवासी नर-नारियों को ही नहीं, वरन् वृन्दावन के समग्र परिवेश को अपनी मुट्ठी में ऐसा बन्दकर लेता है कि वे उस रूप के बारम्बार दर्शनों की उत्कट उत्कंठा से प्रपीड़ित दिखाई देते हैं।

सूर का "सूरसागर" रूप-सौन्दर्य का लहराता सागर है। मोटे रूप में उसके समग्र सौन्दर्य-चित्रण को स्त्री-पुरुष सौन्दर्य में विभक्त किया जा सकता है। कहना न होगा कि कवि ने नाना प्रकार के नर-नारियों को नाना स्थितियों के आलोक में रखकर जो उपलक्षित चित्र-योजना की है, उससे उनकी सूक्ष्म अन्वीक्षण-शक्ति तथा सौंदर्यानुभूति का उत्कृष्ट परिचय मिलता है।

आराध्य कृष्ण ही सूर के मुख्य वर्ण्यविषय और पुरुष-सौन्दर्य के प्रतिनिधि निकष हैं। कृष्ण के सौन्दर्य को दो रूपों में देखा जा सकता है- बाल-सौन्दर्य और किशोर-सौन्दर्य, इनमें प्रथम रूप तो मुख्यतः नन्द-यशोदा के वात्सल्य का आलम्बन है और द्वितीय, गोपियों के रतिभाव का। कृष्ण का शरीर श्यामल है, जिसकी व्यंजना के लिए कवि ने कई प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया है। लेकिन, अधिकांश स्थलों पर उसके लिए नीलाम्बुज और नव जलधर-जैसे उपमानों का व्यवहार कर उसने अपनी उपमानप्रियता का संकेत किया है। बात यह है कि वैसे तो सामान्यतया लोग श्याम रंग को काला या साँवला ही मानते हैं, किन्तु, वास्तविकता यह है कि उसे काले और नीले का सम्मिश्र रंग मानकर गाढ़ा हरा या गहरा नीला बताया गया है। इस नाते उसे उपर्युक्त उपमानों के अतिरिक्त अलसी के गहरे नीले रंग वाले फूल से भी उपमित किया गया है।

सूर ने 'सूरसागर' के अनेकानेक पदों में अपने लीला-नायक कृष्ण के नख-शिख का भी रूपांकन किया है। इस दृष्टि से उन्होंने कतिपय पदों में उसकी शुरुआत पद-नखों से की है और कुछ में शिखा की ओर से। प्रस्तुत है दोनों प्रकार के वर्णनों की कुछ पदों की टेक-पंक्तियाँः–

**नख-शिखः–**

क. **नटवर बेष काछे स्याम।**

ख. **ऐसे सुने नन्दकुमार।**

## शिख-नख :

क. **हम देखे इहि भाँति कन्हाई।**

ख. **प्यारे नन्दलाल हो। मोही तेरी चाल हो।।**

आराध्य देवताओं का वर्णन प्रथम पद्धति और मानवी रूप का वर्णन द्वितीय पद्धति के अनुसार किया जाता है। सूर अपनी सख्य-भाव की भक्ति के कारण कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन शिख-नख पद्धति से भी करते हैं। लेकिन, अधिकांश ऐसे वर्णन प्रथम पद्धति के माध्यम से ही किये गये हैं। कवि के ऐसे वर्णन काफी सूक्ष्म, श्रीसम्पन्न और इन्द्रिय-गोचर होने के साथ पर्याप्त वस्तुनिष्ठ भी होते हैं। प्रायः अप्रस्तुतों का चयन गोचर प्रकृति से ही किया गया है। कवि जिसे **''छबि-तरंग''** कहता है वह प्रायः मानसी प्रत्यक्षीकरण का विषय होता है। कवि वहाँ अपनी बुद्धि को **''चकित-थकित''** बतलाता है जहाँ वह अपने को सौन्दर्य के सम्पूर्ण उद्घाटन में असमर्थ पाता है।

गौर करने पर लगता है कि सूर रूप-चेतना के नितान्त मर्मी कलाकार हैं। इस 'कथन के साक्ष्य में प्रस्तुत है' व्याख्या सहित दो उदाहरण। प्रायः ही यह देखा जाता है कि कोई प्रेमालम्बन कितनी सौन्दर्य-सम्पदा का अधिपति है, उसका एहसास उसके आश्रय की हृदयानुभूतियाँ ही कराती हैं। कृष्ण का लोकातिशायी सौन्दर्य कितना अगाध और अनंत है, इसका बड़ा व्यंजक 'पता देती है गोपियों की वह अमूर्त निगोड़ी या मरगिली (मुई) साध (अदम्य कामना), जिसका मानवीकृत रूप में चित्रांकन कर कवि ने अपनी मार्मिक, सूक्ष्म, सहज और बहु-आयामी सौन्दर्य-दृष्टि का उदात्त परिचय दिया है:

**हरि दरसन की साध मुई।**
**उड़ियै उड़ी फिरति नैनन सँग, फर फूटैं ज्यौं आक रुई।।**
**जानौं नहीं कहाँ तैं आवति, वह मूरति मन माहिं उई।**
**बिनु देखे की विथा बिरहिनी, अति जुर जरति न जाति छुई।।**
**कछुवै कहति कछू कहि आवति, प्रेम पुलक स्रम स्वेद चुई।**
**सूखति सूर धान अंकुर सी, बिनु बरषा ज्यौं मूल तुई।।**

इस पद में आश्रय (गोपियों) के माध्यम से मानवीकृत रूप में वर्णित अनन्य सौन्दर्य-लालसा के बखूबी बोध के लिये यह आवश्यक है कि इसके सूक्ष्मार्थ का अवलोकन कर लिया जाये। पद-प्रकरण यह है कि कोई कृष्ण-सौन्दर्यासक्ता विरहिणी गोपी अपनी हरि-दर्शन विषयक उस अमूर्त हृदयस्थ साध की लानत-मलामत करती अन्य गोपी से कहती है, जो पलभर के लिये भी उसे चैन से बैठने नहीं देती।

विवृति यही कि हरि (कृष्ण) दर्शन की निगोड़ी (मुई-औरतों की एक गाली या अपशब्द, दुष्टा, कमीनी) साध ( उत्कट लालसा) नेत्रों की गतिमयता के साथ अभिन्न रूप से उसी प्रकार उड़ी ही उड़ी फिरती है जिस प्रकार आक (मदार) फल के फूटने पर उसके भीतर की रुई का एक-एक सूक्ष्म रेशा वायु-लहरों के साथ-साथ उड़ा फिरता

है। इसी अदम्य अभिलाषा के चलते वह (कृष्ण) मूर्ति (मानस-बिम्ब, इमेज) मन में कहाँ (किधर) से आकर उदित हो उठती है, इसकी जानकारी नहीं हो पाती। कृष्ण-दर्शन की अभाव-व्यथा से व्यथित आकांक्षा की यह विरहिणी विरह के आत्यंतिक ज्वर से इतनी ज़्यादा जलती रहती है कि उसे छुआ तक नहीं जा सकता है। विरह के इस अतिरेकी ज्वर ने सन्निपात (टाइफायड) का रूप ले लिया है, जिसके प्रभाव से वह कुछ का कुछ (और का और) कहने लगी है, अर्थात् असम्बद्ध प्रलाप का शिकार हो गयी है और उससे प्रेम-पुलक होने के श्रम से उत्पन्न पसीना चूता रहता है। और ऐसी दुहेली दशा को झेलती लालसा की वह वियोगिनी उसी प्रकार सूखती जा रही है जैसे वर्षा हुए बिना धान का अँखुआ (डाभ) मूलसहित सूखता जाता है। इस प्रकार, सौन्दर्य-साध का ऐसा मानवीकृत, सूक्ष्म और सहजरूप अन्यत्र दुर्लभ है। अमूर्त साध को मूर्त मदार-रेशों से उपमितकर उसे इन्द्रिय-गोचर बना दिया गया है। अनेक ऐसे मनीषियों ने, जो सूर पर अनुसंधान कर महामहोपाध्याय कहलाये, "मुई" शब्द का कवि-अभीष्ट या प्रकरणगत सही अर्थ न लगा पाने के कारण जो अनर्थ किया, उन्हें यों देखा जा सकता है। (1) "हरि-दर्शन की लालसा विरहिणी गोपी में मर गयी है, तथापि कृष्ण के रूप का आकर्षण बना रह गया है" (2) "कृष्ण के दर्शन की आशा तो समाप्त हो गयी है।"

अपने सौन्दर्य-चित्रण के समय सूर जब **"छवि-तरंगों"**, **"छबि की चमक"**, **"नट-कौतुक"** आदि की बातें करते है तब उनका आशय उसी शास्त्रीय स्थिति से होता हैं जिसे मैंने इस प्रकरण की प्रस्तावना में वह रमणीयता कहा है, जो क्षण-क्षण में अपने रूप का नव-नवोन्मेष करती रहती है, और जिसे हम सौन्दर्य का सनातन (स्थायी) रूप कह सकते हैं। प्रस्तुत है कवि का एक अन्य पद, जिसमें उसने कृष्ण के एक पल के सौन्दर्य को शोभा की पराकाष्ठा (सीवाँ) कहकर उसे पल-पल में परिवर्तित होनेवाला, आनन्द-निधि स्रोत (खानि) और **"रूप-परम निधि"** बताया है। गोपियों के सामने ऐसे अगाध और अनन्त सौन्दर्य-सागर को हृदयंगम करने की एक बड़ी समस्या आ पड़ी है- कृष्ण के ऐसे अपार रूप का परिचय (पहचान) कैसे पाया जाए ? :

**स्याम सौं काहे की पहिचानि।**
**निमिष निमिष वह रूप, न, वह छबि, रति कीजै जिय जानि।।**
**इकटक रहति निरन्तर निसि दिन, मन बुधि सौं चित सानि।**
**एकौ पल सोभा की सीवाँ, सकति न उर महँ आनि ।।**
**समुझि न परै प्रगटहीं निरखत, आनँद की निधि खानि।**
**सखि यह बिरह, सँजोग, कि समरस,सुख दुख, लाभ कि हानि।।**
**मिटति न घृत तैं होम-अग्नि-रुचि, सूरसु सुलोचन वानि।**
**इत लोभी उत रूप परम निधि, कोउ न रहत मिति मानि।।**

कवि की सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना की अच्छी जानकरी हेतु प्रस्तुत है इस पद का खुलासा-कोई गोपी किसी अन्य गोपी से कहती है–श्याम से पहचान की बात कैसी ?

पल-प्रतिपल न तो उनका वह रूप (सूरत) रहता है और न ही वह छवि ही, जिसे हृदय में बसाकर उनसे प्रीति की जाए। मन और बुद्धि से चित्त को एकजुटकर रात-दिन निरन्तर अनिमेष निहारते रहने के बावजूद भी उनके रूप की एक भी पल की सीमान्त शोभा हृदयंगम नहीं कर पाती। आनन्द-निधि का स्रोत उन (कृष्ण) का रूप प्रत्यक्ष दिखता होकर भी इस समझ के परे होता है कि यह वियोग है या संयोग, सुख है या दुःख, लाभ है या हानि। घृताहुति से जैसे अग्नि की भूख तृप्त होने के बजाय और बढ़ती जाती है वैसे मेरे नेत्रों की प्रकृति हो गयी है कि कृष्णरूप को देखकर भी और देखने की प्यास बढ़ती जाती है। इधर रूप-लोभी मेरे नेत्र और उधर **रूप-परम निधि** दोनों ही अपनी सीमा नहीं स्वीकारते। इस वर्णन में रूप-बोध की प्रायः सभी आधार-भूत विशेषताएँ आ गयी हैं।

इनके अतिरिक्त कवि ने अनेकत्र **"रूप-ठगौरी", "हरि दरसन अमल परयौ"** आदि उक्तियों के माध्यम से रूप-सौन्दर्य के उसी स्थायी हृदयावर्जक लावण्य की ओर संक़ेत किया है। उसने सौन्दर्य-वर्णन में प्रणय-क्रीड़ा, हाव-भाव, अंग-भंगी, सुखोपभोग आदि के बहाने विलास का भी पर्याप्त अंकन किया है। इस संदर्भ में **"रूपरासि सुख-विलास", "मुरझ्यौ मदन जगायो"** आदि वर्णनों को देखा जा सकता है। इस दृष्टि से राधा विलास की प्रतिमूर्ति है और कृष्ण उसका आभोग करनेवाले रसिक-शिरोमणि-**सहज माधुरी रोमनि बरसति, रतिरन कीच मची**" तथा **"सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बिलसहु स्याम सुजान।"**

सूर के सौन्दर्य-चित्रण की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि वे रूप की सहज स्थिति पर पर्याप्त ध्यान देते हुए भी उसे अलंकृत करना कभी नहीं भूलते। मुरली के आवाहन पर गोपियाँ आधी रात के समय भी वनवारी के पास जाने के लिये आभूषण धारण करना नहीं भूलतीं। यहाँ तक कि उनके शिशु कृष्ण भी निरलंकृत नहीं होते । अपने पात्रों की वेष-भूषा पर भी कवि काफी ध्यान देता है। राधा-कृष्ण दोनों अलंकृत-आभूषितरूप में ही सामने आते हैं। सूर बाल कृष्ण की छवि पर सर्वतोभावेन निछावर हैं। शिशु कृष्ण 'शोभा-सिन्धु' हैं, जिसमें माता यशोदा के माध्यम से स्वयं सूर की भी गति-मति दृष्टि बूँद बनकर समा जाती है :

**सुन्दरता कौ पार न पावति, रूप देखि महतारी ।**
**सूर सिन्धु की बूँद भई, मिलि गति मति दृष्टि हमारी।।**

तन्मयता की इसी अतिशयता के कारण सूर का बाल-सौन्दर्य पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। उनके बाल रूप-सौन्दर्य में एक सहज बाल-भाव की प्रायः सभी मुद्राएँ और भंगिमाएँ देखने को मिल जाती हैं, जिनमें अवस्था और अवसर का पूरा ध्यान रखा गया है। सर्वत्र सौन्दर्य की रमणीयता पर कवि की दृष्टि बराबर रहती ही है।

किशोर कृष्ण की रूप-चेतना का तो "सूरसागर" जैसे आकर ग्रंथ हो। कृष्ण का सौन्दर्य मानों **"सुन्दरता-मन्दिर में रूप-रतन-ज्योति"** है। सीता के सौन्दर्य-चित्रण में

तुलसी ने शब्दांतर से इसे यों व्यक्त किया है–**''छबि-गृह दीपसिखा जनु बरई।''** नख-शिख-विभूषित कृष्ण-कटि किंकिणी-विलसित, हाथ पहुँची, कंठ कठुला और कान मकराकृत कुण्डल से सुशोभित हैं। इनमें कृष्ण का त्रिभंगी अवस्था का मुरलीधर रूप ही सर्वाधिक लोकप्रिय है, जिसका चित्रण कवि ने हार्दिक तन्मयता के साथ किया है। कृष्ण की पीताम्बर-विलसित अंग-यष्टि, कनक-लता-आवेष्टित तमाल-तरु से होड़ लेती है। बारंबार कृष्ण-मुख की शोभा-श्री का अंकन करते कवि थकता नहीं। यही नहीं, सूर ने कृष्ण के नेत्रों की छवि का भी राशि-राशि वर्णन किया हैं। इनके अतिरिक्त, कवि ने पद-नख, मोरमुकुट, कर्ण-कुंडल, अधर-अरुणिमा, प्रबल बाहु, पीताम्बर, अलकावली आदि के चित्रण भी मनोहर अप्रस्तुतों के माध्यम से किए हैं, जिनसे उनकी मधुरता, कोमलता, सरसता, और छविमयता छलकी पड़ती है। सूर ने अपनी सौन्दर्यानुभूति की क्षिप्र और सरल प्रभाव- व्यंजना के लिए प्रायः परम्परागत अप्रस्तुतों के ऐसे प्रयोग किये हैं, जिनसे उसमें माधुर्य और सरसता की कमी नहीं होने पाई है। आंगिक सौन्दर्य-चित्रण हेतु नख-शिख-शैली का व्यवहार किया गया है। कवि ने प्रायः अपने को सौन्दर्य के सुकुमार, कोमल और मधुररूप तक ही सीमित रखा है।

सामान्यतः सूर ने नारी-आदर्श-सौन्दर्य की कल्पना गोपीरूप और विशेषतः राधा-रूप में की है। गोपियों तथा राधा के सौंदर्य का चित्रण तो अधिकांशतः आश्रय (प्रेमिका) रूप में ही किया गया है, किन्तु कभी-कभी उनके रूप-सौन्दर्य का अंकन कृष्ण के प्रेमास्पद-रूप में भी मिलता है। इस प्रकार, सूर के नारी-रूप-चित्रण को दो तरह से देखा जा सकता है- गोपी-रूप का सामान्य चित्रण और राधा का विशिष्ट रूप-चित्रण।

''सूरसागर'' में गोपियों के कतिपय सामान्य चित्र ही मिलते हैं। वे सभी चन्द्रवदनी, युवती और सुकुमारी हैं, अंग-अंग जिनका आभूषित होता है और जिनकी गतिमयता के साथ उनके पग-नूपुर तथा बिछुवे और कटि-किंकिणी मधुर ध्वनि करने लगती है। वे सोलह (नव-सत) श्रृंगार से सुसज्जित हो जब मत्त मतंगों की भाँति मंद-मंद चलती हैं तो उन्हें देखकर मनसिज का मन भी मुग्ध हो जाता है।

सूर ने राधा के रूप का जो अंकन रास-लीला के प्रकरण में किया है उसे सभी गोपियों के सौन्दर्य का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। सूर ने राधा के रूप-चित्रण में अपनी सौन्दर्य-चेतना के सर्वोत्तम का अवदान किया है। राधा समस्त संसार के समग्र सौन्दर्य सारांशरूप में चित्रित की गयी है। उस सौन्दर्य के समक्ष संसार के अन्य सौन्दर्य निष्प्रभ और नीरस प्रतीत होते हैं। **''सुन्दरता की प्रकट पुंज''** और **''रूप-निधान''** होने से वह अद्वितीय और अनुपमेय है। बड़े श्रम और बड़ी सावधानी से काम लेकर विधाता ने **''रूप-उदधि''** का मंथन कर उस **''मोहन'' ''मोहिनी''** की रचना की है। उसके रोम-रोम से **''सहज माधुरी''** की वर्षा होती है। कृष्ण **''शिशु-तमाल''** हैं तो राधा **''कनक-वल्लरी''**। राधा कृष्ण की ऐसी **''केलि सरोवरी''** है, जिसके **''शैशव-जल''** को **''तारुण्य-तरणि''** ने सोख लिया है और वह शोभा की सीमा पर

पहुँच गयी है। राधा के मुख, नाक, माँग, चिकुर, कबरी, कान, भौंह, नेत्र, अंजन, कण्ठ आदि के वर्णन शिख-नख-पद्धति पर बड़ी तन्मयता से किए गये हैं और कभी इसके विपरीत भी। कहीं-कहीं तो राधा का नहीं, मात्र उसके शृंगार-सज्जा का ही चित्रण किया गया है, यथा- **"प्यारी अंग सिंगार कियो"**

राधा के रूप-सौष्ठव की एक ऐसी बानगी द्रष्टव्य है, जिसमें वह पुण्यसलिला गंगा का रूप धारणकर अपने प्रेमास्पद से मिलने नवल-निकुंज जा रही है। राधा का सर्वांग मानों गंगा समग्र का रूप-स्वरूप हो :

**मनौ गिरिवर तैं आवति गंगा।**
**राजति अति रमनीक राधिका, इहिं विधि, अधिक अनूपम अंगा।।**
**गौर-गात-दुति बिमल बारि विधि, कटितट त्रिबली तरल तरंगा।**
**रोम राजि मनु जमुन मिली अध, भँवर परत मानौ भ्रुव भंगा ।।**
**भुज जुग पुलिन पास मिलि बैठे, चार चक्कवै उरज उतंगा ।**
**मुख, लोचन,पद, पानि पंकरुह, गुरुगति, मनहुँ मराल बिहंगा।।**
**मनिगन भूषन रुचिर तीर बर,मध्य धार मोतिन-मय मंगा।**
**सूरदास मनु चली सुरसरी, श्रीगुपाल सागर सुख-गंगा।।**

इस पद में चित्रित कवि की मृहिम रूपानुभूति से भली-भाँति अवगत होने के लिये उसके अर्थ-गौरव को जानना जरूरी है। पर्वतराज हिमालय से निकलकर प्रवाहित गंगा और कृष्ण से मिलने जाती अपने अधिकाधिक अनुपम तथा मनोज्ञा अंगोंवाली एवं अत्यन्त रमणीय शोभाशालिनी राधा का गतिमान् सौन्दर्य दोनों समतुल्य हैं। राधा के गौरांगों की दीप्ति गंगा का विमल जल,कटि-निकट स्थित उस (राधा) की त्रिवलियाँ (पेट पर पड़नेवाले तीन बल) ही गंग-तरंगें, अधोभाग की रोम-पंक्तियाँ ही उस (गंगा) से मिलनेवाली यमुना और राधा के भ्रू-भंग ही मानों गंगा में पड़नेवाली भँवरे हों। सन्निकट की उसकी दोनों भुजाएँ उसके दो किनारे, उत्तुंग उरोज ही चकवे, मुख, नेत्र, चरण, हाथ ही उसमें खिलनेवाले नाना कमल, मंद-मंथर गति ही उसके हंस पक्षी और मणियों (हीरे-जवाहरात) से विरचित उसके रुचिर आभूषण ही मानों गंगा के रेतीले उत्कृष्ट तट हों। मोतियों की लड़ी से आभूषित माँग मानों मध्य में प्रवाहित गंग-धार हो। इस प्रकार, गंगधाररूप राधा का रमणीय सौन्दर्य ही मानों श्रीकृष्ण-सुख-सागर से मिलने जा रहा हो।

इस पद की अन्य बारीक विशेषताओं को दिखाने के लिए स्थल-संकोच होने से यहाँ इतना ही कहना चाहता हूँ कि गंगा के सांगरूपक के माध्यम से रूप ही रमणीय दशा से कई कदम आगे बढ़कर राधा की सनातन-सौन्दर्य-समृद्धि का यहाँ जो भव्य (Grand) चित्रांकन किया गया है उसे सूर की महीयसी काव्य-प्रतिभा का अनमोल अवदान माना जा सकता है। ऐसे विभ्राट् सांगरूपकों का सफल और मर्मस्पर्शी निर्वाह किसी विरले महाकवि की महिष्ठ काव्य-प्रतिभा ही करती आयी है। हिन्दी के प्रसिद्ध

अलंकारशास्त्री लाला भगवानदीन ने तुलसी को रूपकों का बादशाह कहा है। इस दृष्टि से, सूर भी उनसे कुछ कम नहीं जान पड़ते।

निचोड़ यह है कि सूर की सौन्दर्य-संचेतना मानव-मन की गूढ़, गहन और सूक्ष्म सौन्दर्य-पिपासा को बहुत कुछ संतृप्ति प्रदान करनेवाली है और इस दृष्टि से वे एक अत्यन्त सुसिद्ध, सफल और सारस्वत महाकवि ठहरते हैं। उनकी सौन्दर्य-दृष्टि बड़ी व्यापक, उत्कृष्ट और तलस्पर्शिणी है। अगाध सहजता और सहृदयता इस दृष्टि की आधार-भूत विशेषताएँ हैं। इस नाते उसमें हमारे चेतन-तत्त्व को आनन्दित और सम्मोहित करने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है।

# काव्य-संवेदना

सूर ने अपने अपूर्व कृतित्व के माध्यम से भक्ति की गंगा, काव्य की यमुना और संगीत की सरस्वती की एक ऐसी पुनीत त्रिवेणी प्रवाहित की है, जो लगभग पाँच शताब्दियों से न केवल हमारे मलिन मानस के कलुष-कर्दम का ही प्रक्षालन करती आ रही है वरन् काव्य तथा संगीत-मर्मज्ञ सहृदयों को भी रस-स्नातकर उन्हें अनूठे आनंद का उपहार भी देती आ रही है। कहना न होगा कि कवि के ये तीनों-भक्त, कवि और गायक (कीर्तनकार)-रूप परस्पर पूरक होकर सामने आते हैं।

सूर मधुर भावों के अत्यंत सुकुमार महाकवि हैं। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद तो उनकी इस अभीष्ट की पूर्ति सोने में सुहागा साबित हुई। इस सुखद संयोग का सुपरिणाम यह हुआ कि हिन्दी को वात्सल्य और शृंगार-रसों के दो ऐसे उपहार मिले, जिनका कहीं कोई सानी नज़र नहीं आता। और जहाँ तक कवि के वात्सल्य का सवाल है, उस संदर्भ में, हमें यह जान लेना चाहिए कि उसके परिविस्तार तथा शिशु से लेकर बालकों की सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोवृत्तियों के मर्मोद्घाटन की दृष्टि से सूर वात्सल्य रस के ऐसे संपूर्ण महाकवि हैं,जो दुनियाभर के कवियों को पीछे छोड़ आगे निकल जाते हैं।

सूर वात्सल्य रस के शाश्वत कवि हैं। एक सुकुमार मनोवृत्ति का कवि होने के नाते सूर का मन भयानक, वीभत्स, वीर, रौद्र आदि रसों के वर्णन में नहीं रमता। उनके आराध्य की ललित लीलाएँ ही उन्हें हर तरह से रमा सकती थीं। संस्कृत की कोमलकान्त पदावली के धनी जयदेव और हिन्दी के मैथिल-कोकिल विद्यापति कृष्ण-चरित का ऐसा ही गान पहले से करते आ रहे थे। अपने को अपने आराध्य के लीला-गान तक ही बहुत कुछ सीमित रखने के कारण सूर की काव्य-परिधि भी परिमित हो गयी है। लेकिन, कवि ने वर्ण्य भावों में गहराई लाकर उस कमी की बहुत कुछ पूर्ति कर दी है। कृष्ण की बाल और प्रेम लीलाओं की मार्मिक झाँकी प्रस्तुत करना कवि का सर्वोपरि उद्देश्य है। तुलसी के काव्य में जहाँ सभी भावों-रसों को स्थान मिला है सूर के काव्य में वहाँ वात्सल्य और शृंगार रसों को काफी विस्तार से वर्णित किया गया है। सूर के कृष्णचरित का आधार भागवत है, जिसमें कृष्ण के मधुर प्रेममय और लीलामयरूप का ही प्राधान्य है। सूर ने उनके इसी मधुर रूप को ही अपनाया है। सूर का महाभारत के उस कृष्ण से कोई लेना-देना नहीं है, जो योगिराज, राजनीति-कुशल, योद्धा और धर्मोपदेशक के रूप में सामने आते हैं। शील, शक्ति और सौंदर्य भगवान् की इन तीन विभूतियों में से सूर ने केवल सौंदर्य को ही अपनी काव्य-साधना का विषय बनाया है। सूर ऐकांतिक साधक थे। समाज और लोक-मर्यादा का उन्हें उतना ध्यान नहीं था।

सूर-जैसा अनन्य प्रीति-भाव का उपासक कवि हिन्दी में कोई दूसरा नहीं हुआ। उन्होंने प्रीति के चार-दैन्य, वात्सल्य, सख्य तथा दाम्पत्य-रूपों को लेकर आजीवन उनकी साधना की। इतना ही नहीं उन्होंने इन भावों के संवर्धक और सहकारी अनेक भावों का चित्रण भी सूरसागर में किया है। सूर के दैन्य भाव के पद वही हैं, जिन्हें हम विनय के पद नाम से जानते हैं और जो भगवद्विषयक रति के विषय हैं। कहना न होगा कि सूर ने तीनों-दाम्पत्य रति, भगवद्विषयक रति और वात्सल्य रति-भावों को अत्यन्त सफलता के साथ रस की कोटि तक पहुँचाया है। सूर के विनय के पदों की भाव-चेतना का पर्यालोचन करने पर यह ज्ञात होता है कि इस तरह के पदों में कवि की जिस विरक्त-वृत्ति का आद्योपांत चित्रण किया गया है, वह मायावाद और मिथ्यावाद से प्रभावित है। संसार निस्सार है, उसके रूप, रस, गंध, स्पर्शादि से सतत् दूर रहने की प्रबल आकांक्षा, आत्मस्वरूप-बोध के प्रति संलग्न सजगता आदि बहुत सारी ऐसी बातें हैं, जिनकी प्रायशः चर्चा कवि के दैन्य-भाव-भक्ति से भरे उसके विनय के पदों में की गयी है। कवि बारंबार अपने मन से मन की बात करता हुआ कहता है कि आत्मज्ञान ही सांसारिक विषय-वासनाओं से छुटकारा दिलाने का एक साधन है। सूर तो लोक-विमुख होकर भी हरि-शरण-ग्रहण का उपदेश देते हैं। कवि के इन पदों से उसकी विकल आत्मा की आकुलता फूटी पड़ती है। सूर की इन विनयोक्तियों में तत्कालीन लोक की ऐसी आत्मनिष्ठ व्याख्या छिपी हुई है, जिसके दैन्य, क्लेश, ग्लानि आदि जैसे विविधरूप देखे जा सकते हैं। सूर के विनय के इन पदों में प्रायः सर्वत्र ही यह मिल जाता है कि भक्त छोटे से छोटा और भगवान् बड़े से बड़ा है। इन पदों में भक्त अपनी सारी व्यथा-कथा सुनाकर अन्त में प्रभु से उसकी कृपा-प्राप्ति की याचना करता है। कवि को भगवान् की भक्तवत्सलता पर अटूट आस्था है। वह अपने को आराध्य के सन्निकट समझता है और उसी बीच व्यंग्य-विनोद भी करने लगता है।

प्रभु कितना दयार्द्र या दयालु है, सूर अतृप्तभाव से इसकी श्लाघा करते थकते नहीं। उसका अखंड विश्वास तब और ओजोदीप्त होकर सामने आता है जब भीष्म-प्रतिज्ञा के बहाने वह चुनौतीभरे स्वर से प्रभु को ललकारता हुआ कहता है:-

**आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।**
**तौ लाजौं गंगा जननी कौं सांतनुसुत न कहाऊँ।।**
**स्यंदन खंडि महारथि खंडौं कपिध्वज सहित गिराऊँ।**
**पांडव दल सम्मुख ह्वै धाऊँ सरिता रुधिर बहाऊँ।।**
**इती न करौं सपथ तो हरि की छत्रिय गतिहिं न पाऊँ।**
**सूरदास रनभूमि बिजय बिनु जियत न पीठि दिखाऊँ।।**

कहना न होगा कि यहाँ भीष्म ने जिस ओजस्वी भाव से भरकर जो प्रतिज्ञा की है और उसमें सन्निहित एक जो उत्साह-भाव पाया जाता है, वह दैन्य भाव का ही अंग बनकर आया है, क्योंकि कवि को यह पूर्ण विश्वास है कि उसका प्रभु उसे अपनी कृपा प्रदानकर उसकी प्रतिज्ञा की पूर्ति करेगा अवश्य। प्रभु का अनुग्रह ही इस प्रतिज्ञा-पूर्ति

का हेतु है। बताने की ज़रूरत नहीं कि ऐसी प्रखर मुखरता भी अनन्य और अखण्ड भक्त-हृदय की देन होती है। यहाँ यह बेहिचक कहा जा सकता है कि कीट-भृंग सदृश भक्ति-लीन चित्त की जैसी उत्कृष्ट पहचान सूर कराते हैं वैसी तुलसी नहीं यद्यपि विनयपत्रिका में उनका सारा आत्मद्रव उतर आया है, फिर भी, अन्य बातों के अलावा, इसका एक बड़ा कारण यह भी है कि प्रज्ञाचक्षुओं में दृष्टिवंतों की अपेक्षा चित्त-वृत्तियों को एकाग्र करने की शक्ति; (Power of concentration) अधिक देखी जाती है। बाहरी आँखों ने भीतरी आँखों को अब तक जितना भड़काया और भटकाया है उतना ध्यानस्थ आदि होने में उनकी मदद नहीं की है।

वैसे तो काव्य के भावों में गहराई लाने का उपक्रम किसी महाकवि की महीयसी काव्य-प्रतिभा ही करती आई है, किन्तु, इस कवि की दृष्टि-विहीनता ने उसे तद्गत करने में अपना ऐसा अनन्य सहयोग दिया, जिससे उसकी काव्य-छटा कालजयी हो गयी। इसलिए, मेरी दृष्टि में, सूर ने अपने अंधत्व से जितना खोया था उससे कहीं अधिक अपने जीवन-काल में ही पा भी लिया था। भाव-गांभीर्य उसकी वर्ण्य वस्तु की परिमित स्थिति के एहसास को सँभाल लेता है, जिससे उसकी कोताही का अनुभव नहीं होने देता।

## संयोग वात्सल्य

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रारंभ के कई महान् आचार्यों ने तो इसे स्वतंत्र रस न मानकर भाव तक ही सीमित माना था, किन्तु, साहित्यदर्पण के रचयिता और परवर्ती आचार्य विश्‍वनाथ ने स्पष्ट ही इसे रस मानते हुए लिखा है-**प्रकट चमत्कार होने के कारण वात्सल्य को भी रस माना जाता है।**[1] अब यहाँ एक पेंचदार सवाल उठ खड़ा होता है कि रस किसे कहते हैं ? इसे समझने के लिये यह बूझना आवश्यक होगा कि विभिन्न रसों में से चाहे किसी भी रस की कविता क्यों न हो, शास्त्रीय दृष्टि से, उसमें उसके चार-स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव-उपकरणों का एकसाथ उपस्थित होना अनिवार्य होता है। इस दृष्टि से, वात्सल्य स्नेह ही इसका स्थायीभाव है। पुत्रादि आलंबन, बाल-सुलभ चेष्टाओं के साथ उसकी विद्या, दया, शौर्य आदि विशेषताएँ उद्दीपन, आलिंगन, अंगस्पर्श, सिर का चूमना, देखना, रोमांच आदि अनुभाव और अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि इसके संचारीभाव माने जाते हैं। अब इसके साक्ष्य में प्रस्तुत है सूर का ऐसा पद जिसमें वात्सल्य रस के सर्वांगों का बहुत सुंदर समाहार हुआ है:—

**बलि गइ बाल-रूप मुरारि।**
**पाइ पैंजनि रटति रुन-झुन, नचावति नँद नारि।।**
**कबहुँ हरि कौं लाइ अँगुरी, चलन सिखवति ग्वारि।**

1. साहित्यदर्पण, 3/51-53

**कबहुँ ह्रदय लगाइ हित करि, लेति अंचल डारि।।**
**कबहुँ हरि कौं चितै चूमति, कबहुँ गावत गारि।**
**कबहुँ लै पाछे दुरावति, हयाँ नहीं बनवारि।।**
**कबहुँ अग भूषन बनावति, राइ लोन उतारि।**
**सूर सुर नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि।।**

इस पद में कृष्णमुरारी के बाल-रूप-सौंदर्य के निरखने-परखने का लाभ केवल नंदरानी यशोदा ही नहीं उठा रही हैं वरन् उन्हीं की भाँति गोकुल की अन्य ग्वालिनियाँ भी उन (बाल कृष्ण) के इस रूप-रस का पान कर रही हैं। एकदम माता की ही तरह वे भी हर्षगद्गद हो कृष्ण को अपनी उँगली पकड़ाकर उन्हें चलना सिखाती हैं, कभी प्रेम-विवश हो उन्हें छाती से लगाकर अंचल से ढँक लेती हैं, कभी उन्हें चूमती तथा कभी किसी द्वारा कृष्ण की खोज-बीन की जाने पर वे उन्हें अपने पीछे छिपा लेती हैं। कहने का आशय यही कि जब सूर के वत्सल रस का सरित्प्रवाह उमड़ता है तो उसके आनंद में निमग्न हो उसमें डुबकी लगानेवाले तीन तरह के वे आश्रय पात्र आते हैं, जिन्हें हम नंद-यशोदा, ब्रजनारियों और भक्त सूरदास के रूप में जानते हैं। इन तीनों की वत्सल रति (भक्ति) के आलंबन हैं–बाल कृष्ण।

इस प्रकार, इस पद में वात्सल्य रस के सारे तत्त्व मिल जाते हैं। कृष्ण आलंबन हैं, यशोदा और ब्रजनारियाँ आश्रय, कृष्ण की अनूठी छवि, उनका रुन-झुन पैंजनियाँ बजाते हुए चलना, नाचना आदि उद्दीपन हैं। ब्रजनारियों द्वारा हरि को देखना, चूमना, आँचल के नीचे छिपाना, कृष्ण को पीछे की ओर ले जाकर दुराना आदि चेष्टाएँ अनुभाव हैं और हर्ष संचारीभाव।

किन्तु, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सूर-काव्य में सर्वत्र शास्त्रीय स्थितियों का ही संपादन हुआ है। सचाई तो यह है कि कवि ने वात्सल्य को उसके अनेक ऐसे सहकारी भावों के साथ भी चित्रित किया है, जो उसका प्रबल पोषणकर उसे अत्यंत विस्तृत भाव-भूमि प्रदान करते हैं। कृष्ण-लीला-गान के समय कवि की चित्तवृत्ति रस-स्नात और प्रफुल्ल हो उठती है।

कृष्ण ब्रज में लौकिक और अलौकिक दो तरह की लीलाएँ करते हैं। अलौकिक लीला की शुरुआत कृष्ण ब्रज में पूतना को मारकर करते हैं और अंत कंस और उसके सहयोगी अनेक असुरों का संहारकर। इन घटनाओं से ब्रज में एक तमाशा अवश्य खड़ा हो जाता है, किन्तु इससे ब्रजवासियों और कृष्ण के बीच भावात्मक दृष्टि से कोई फर्क नहीं पड़ता है; यद्यपि कृष्ण के अवतारी होने की प्रतीति सभी को है। ऐसी स्थिति में कृष्ण का लीलाधारी भाव-रूप व्यक्तित्व सभी को सँभाले रहता है। इस प्रकरण की एक बड़ी विशेषता यह है कि पूतना, कागासुर, शकटासुर आदि के वध की अलौकिक लीलाएँ कृष्ण की सहज बाल-चेष्टाओं के मोह-मंत्र पर कोई अन्यथा असर नहीं डाल पातीं, उल्टे ऐसी गतिविधियों से ब्रजवासियों को एक विलक्षण आनंद की अनुभूति और होती है। सूर लौकिक लीला-गायन के पंडित महाकवि हैं। भावात्मक स्तर पर कृष्ण

की इन लौकिक लीलाओं का विकास वात्सल्य, सख्य और माधुर्य के रूप में हुआ है। वास्तव में, मानवीय प्रेम-संबंध, जिस विकास-क्रम से आगे बढ़कर अंततः जिस अखंड और अद्वैत्भाव में परिणत हो जाते हैं, उनके द्योतन हेतु उक्त तीन प्रीति-दशाओं की अवधारणा की गयी है। किन्तु, वात्सल्य के अतिरिक्त ऐसे प्रेमी और प्रिय को प्रायः समवयस्क होना चाहिए, यह उसकी एक अनिवार्य शर्त है। इसी को, सूर-काव्य का सहचारी प्रेम कहा जाता है। यह बेखटके कहा जा सकता है कि ऐसे प्रेम-साहचर्य की वकालत किसी दूसरे हिन्दी कवि ने भाव और कला की इतनी ऊँचाई पर जाकर कभी नहीं की है। ऐसे प्रेम को ही अखंड और अद्वय प्रेम कहा जाता है।

सूर ने अपने वात्सल्य-वर्णन-प्रसार के लिए कृष्ण के शिशु एवं बाल-जीवन की उन सारी गतिविधियों को अपनाया है, जिन्हें भक्त लीला कहते हैं। इनमें उनकी लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार की लीलाओं का समाहार हुआ है। इनके अतिरिक्त, वत्सल रस-आश्रय यशोदा, देवकी, वसुदेव और नंद कृष्ण के प्रति जो भाव व्यक्त करते हैं, वे वात्सल्यासक्ति के विषय हैं। बाल-लीलाओं के नागर नट कृष्ण का व्यक्तित्व ऐसी लौकिक और अलौकिक लीलाओं का संपादन कर मात्र अपने परिवार तक ही सीमित होकर नहीं रह जाता वरन् वृहत्तर सामाजिक भाव-भूमि पर भी प्रतिष्ठित होता है। सारे ब्रजवासी समान्भाव से कृष्ण-लीलाओं में रस लेते हैं। ग्वाल-बाल, गोप, गोपियाँ आदि सभी वात्सल्यासक्ति के प्रभाव में आकर ऐसा करते हैं।

सूर ने वात्सल्य भाव का बड़े विस्तार से चित्रण किया है, जिसमें विषय-वस्तु का अत्यंत स्वाभाविक, यथार्थ और मनोशास्त्रसम्मत समावेश हुआ है। प्रकाशित सूरसागरों में कुल छः सौ के लगभग ऐसे पद पाये जाते हैं, जिनके अंतर्गत वात्सल्य भावों का सन्निवेश हुआ है। इनमें मातृ-हृदय से संबंधित पदों की संख्या सबसे अधिक 195 है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वात्सल्य रस में माता का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। सूर-द्वारा वर्णित वात्सल्य-प्रकरणों के नाम है- कृष्ण-जन्म-बधाई, नामकरण, अन्न-प्राशन, कृष्ण का चलना, बाल-छवि-वर्णन, कनछेदन, चंद्र-प्रस्ताव, क्रीडन, माखन-चोर, गोचारण, गोदोहन आदि। नंद-यशोदा ही नहीं, ब्रज के समस्त निवासी कृष्ण-जन्म के आनंदातिरेक से झूम उठते हैं। ब्रज के सभी नर-नारी हर्षातिरेक से भरकर नंद के यहाँ पहुँचते हैं और उस आनंदोत्सव में भाग लेकर अपने को धन्य मानते हैं। बधाई-गान के साथ बधाई वाद्य बजने लगते हैं। गोपी-ग्वाल टोलियाँ बनाकर नाचते हैं। सूत, मागध, बंदीजन विरुद-गान करने लगते हैं। आनंद-स्नात हो नंद मुक्तभाव से दान देने लगते हैं। मंगलविधायक देवताओं की पूजा होने लगती है। गोकुल का पूरा परिवेश हर्षोल्लासमय हो जाता है।

फिर तो, कृष्ण पालने में झूलने लगते हैं, सोने लगते हैं, पहले घुटनों (घुटरुन) फिर अपने पैरों के बल चलने भी लगते हैं, जिनसे विलक्षण आनंद की सृष्टि होती है। कृष्ण की इन बाल-लीलाओं का चित्रण करते हुए कवि की दृष्टि बराबर उनके रूप सुषमा पर अटकी चलती है। सूर ने कृष्ण की बालसुलभ भाव-भंगिमाओं के ऐसे अनंत

और बारीक से चित्र उरेहे हैं, जिनके दर्शन कहीं भी नहीं होते। बाल कृष्ण कहीं स्फटिक आँगन में खेलते हुए अपनी परछाई को पकड़ने की चेष्टा करते हैं, कहीं वे मुख दधि लेप किए, कहीं, कर नवनीत लिए की भंगिमा में दिखाई देते हैं, कहीं, रेनुतन-मंडित मुद्रा में घुटरुन चलते नज़र आते हैं, कहीं, चंदखिलौना के लिए हठ करते हैं, कहीं चोरी पकड़ी जाने पर भी माखन का दोना छिपाकर अपने को निरपराध सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, कहीं ओखली में बँधे दीखते हैं और कहीं माखन-चोरी से निबटकर ग्वालिन मन इच्छा कर पूरन भागते दिखाई देते हैं। यहाँ प्रस्तुत हैं कुछ ऐसे उदाहरण जो बाल-भाव अन्तर्यात्रा की विशिष्ट पहचान कराते हैं।

कृष्ण की सारी बाल-लीलाओं में माता यशोदा के वात्सल्य भाव को एक अहम भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण की लौकिक लीलाएँ सबसे अधिक माता के हृदय को प्रभावित करती हैं और उनकी अलौकिक लीलाओं से तो वे विस्मित और संत्रस्त हो उठती हैं। पुरुष होते हुए भी कवि माता के हृदय की बारीकियों से कितना अवगत था और अन्धा होकर भी कितना सूक्ष्मदर्शी और दूरद्रष्टा था, इसकी गवाही देता है यह पद, जिसमें यशोदा की कोमल कामनाओं का बड़ा सजीव रेखांकन हुआ है:-

**जसुमति मन अभिलाष करै।**
**कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगे, कब धरती पग द्वैक धरै।।**
**कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरै मुख बचन भरै।**
**कब नंदहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहिं रटै।।**
**कब मेरौ अचरा गहि मोहन, जोइ सोइ कहि मोसौं झगरै।**
**कब धौं तनक-तनक कछु खैहै, अपने कर सों मुखहिं भरै।।**
**कब हँसि बात कहैगौ मोसौं, जा छबि तें दुख दूरि करै।**

कहना न होगा कि इस पद में माता के हृदय की वह अदम्य लालसा और उत्सुकता, जो बच्चे के विकास के साथ लगी-लिपटी होती हैं, का अत्यंत सहज और सप्राण चित्रण किया गया है।

बालक कृष्ण को दूध न पीता हुआ देखकर माता उसमें स्पर्धा का भाव जगाती हुई कहती है- हे लाल! कजरी गाय का दूध पियो, ताकि ब्रज के अन्य बालकों की तरह तुम्हारी भी शक्ति और अवस्था बढ़ जाए। यह सुनकर वे दूध पीने लगते हैं। लेकिन जब गरम दूध से जीभ जलने लगती है तो रोने भी लगते हैं, फिर दूध पीते-पीते अपने बालों को इस अभिप्राय से टटोलने लगते हैं कि कहीं माता झूठा ही प्रलोभन तो नहीं दे रही है:–

**कजरी कौ पय पियहु लाल जासौं तेरी बेनि बढ़ै।**
**जैसें देखि और ब्रज बालक त्यों बल बैस चढ़ै।।**

**यह सुनि कै हरि पीवन लागे ज्यौं त्यौं लयौ लढ़ै।**
**अँचवत पय तातौ जब लाग्यौ रोवत जीभि डढ़ैं।।**
**पुनि पीवत ही कच टकटोरत झूठहिं जननि रढ़ै।**

माता का शंकालु ह्रदय बच्चे को दूर जाकर खेलने के लिए स्वीकृति नहीं देना चाहता। किन्तु, बालक के हठ करने पर माता हाऊ का भय दिखाकर ऐसा करने को रोकती है :

**खेलन दूरि जात कत कान्हा।**
**आजु सुन्यौ बन हाऊ आयौ, तुम नहीं जानत नान्हा।।**
**इक लरिका अबहीं भजि आयौ, रोवत देख्यौ ताहि।**
**कान तोरि वह लेत सबनि के लरिका जानत जाहि।।**

कुछ बड़े होकर कृष्ण माखन-चोरी करने लगते हैं। अपने सखा ग्वाल-बालों के साथ कृष्ण रोज अनेक घरों में जाकर माखन चुराकर खाते कम और बिखेरते ज्यादा हैं।. रोज़-रोज़ गोरस की ऐसी हानि होती देख गृहणियाँ परेशान होकर यशोदा से इसकी शिकायत करती हैं। लेकिन, एक विशुद्ध मातृ-ह्रदय भला इसका प्रतिवाद किये बिना कैसे रह सकता है.:

**मेरौ गोपाल तनक सौ, कहा करि जानै दधि की चोरी।**
**हाथ नचावत आवति ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी।।**
**कब सीकैं चढ़ि माखन खायौ, कब दधि मटुकी फोरी।**
**अँगुरी करि कबहूँ नहिं चाखत, घरहीं भरी कमोरी।।**

किन्तु, रोज-ब-रोज की ऐसी शिकायतों से तंग आकर एक दिन यशोदा ने कृष्ण को ओखल से बाँध ही तो दिया। यह देखकर कृष्ण की शिकायत करनेवाली वे ग्वालिनें यशोदा को बुरा-भला कहने लगीं। इस पर यशोदा ने खीझकर उन गोपियों के प्रति अमर्ष भाव व्यक्त किया, ज़िसका मूल कारण पुत्र के प्रति माता का वात्सल्य भाव ही है। यशोदा ने ऐसी गोपियों को फटकारते हुए कहा-'अब तुम सब बढ़-बढ़कर बातें करने लगी हो। तुम्हीं लोगों ने तो थोड़ा-सा मक्खन खा लेने पर मेरे बेटे को बँधवाया है। अब (कृष्ण के बाँधे जाने पर) तुम लोग अपने घर से मक्खन मँगवाकर (कृष्ण को) देती हो, मानो मेरे घर कुछ है ही नहीं :

**कहन लगीं अब बढ़ि-बढ़ि बात।**
**ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायौ, तनकहिं माखन खात।।**
**अब मोंहि माखन देतिं मँगाए, मेरैं घर कछु नाहिं।**

वास्तव में, ये गोपियाँ एक ओर तो यशोदा से कृष्ण-माखन-चोरी की शिकायत करती हैं और दूसरी ओर वे चाहती हैं कृष्ण उनके घर आकर माखन खाएँ :-

**कोउ कहति किहिं भाँति हरि कौं, लखौं अपने धाम।**
**हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम।।**

कभी-कभी ऐसी चोरी में रँगे हाथ पकड़े जाने पर कृष्ण अपने को निर्दोष साबित करने के लिए जो तरह-तरह की बालसुलभ सफ़ाई देते हैं, उनसे भी इस बात की स्पष्ट प्रतीति होती है कि कवि बाल-मनोवृत्तियों का कैसा पारदर्शी ज्ञाता है। एक बार पकड़े जाने पर उन्होंने कहा- मैं तो अपने घर के धोखे में तुम्हारे घर आ गया और रही गोरस में हाथ लगाने की बात, देखा कि गोरस में चींटी पड़ी है, इसलिए, उसे निकालने के लिए उसमें हाथ डालना ही पड़ा :

**मै जान्यौ यह घर मेरौ है, या धोखे में आयौ।**
**देखत हौं गोरस में चींटी, काढ़न कौ कर नायौ।।**

सूर बाल मनोविकार की एक-एक भंगिमा के पारखी थे। खीझ की मनोस्थिति में माखन खाते हुए कृष्ण के नेत्र लाल और भौहें टेढ़ी होती जा रही हैं :-

**खीझत जात माखन खात।**
**अरुन लोचन, भौंहे टेढ़ी, बार-बार जँभात।।**
**कबहुँ झुकि कै अलक खैंचत, नैन जल भरि जात।**

मथानी के घमर से उल्लसित चित्त कृष्ण के गतिमान् नृत्य की छटा भी दर्शनीय है :-

**आनँद सौं दधि मथति जसोदा, धमकि मथनियाँ घूमै।**
**निरतत लाल ललित मोहन पग, परत अटपटे भू मैं।।**

मथानी की ध्वनि (घमर) के साथ-साथ नृत्य करते कृष्ण की एक दूसरी भाव-मुद्रा :-

**त्यौं-त्यौं मोहन नाचै ज्यौं-ज्यौं रई घमर कौ होइ री।**

गोचारण भी कृष्ण की बाल-लीला का एक प्रमुख प्रसंग है। बलराम तथा दूसरे ग्वाल-बालों को गोचारण के लिए रोज़-रोज़ जाता देखकर बाल कृष्ण के मन में भी गोचारण के लिए जाने की इच्छा प्रबल हो उठती है, जिसके लिए नंद बाबा की स्वीकृति आवश्यक है :-

**मैया हौं गाइ चरावन जैहौं।**
**तू कहि महर नंद बाबा सौं, बड़ौ भयौ न डरैहौं।**

कृष्ण गाय चराने जाने लगते हैं। वहाँ वे तब कष्ट का अनुभव करते हैं, जब उनके सभी साथी चरवाहे उनसे अपनी-अपनी गायें घिरवाने लगते हैं। हारकर वे अपनी इस मुसीबत का हाल अपनी माँ से बताते हैं। माता तब उन ग्वाल-बालों के इस दुष्कृत पर बिगड़ कर कहती है :-

**मैं पठवति अपने लरिका कौ, आवै मन बहराइ।**
**सूर स्याम मेरो अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ।।**

## वियोग वात्सल्य

यहाँ तक वत्सल रस के संयोग-पक्ष की बात की गयी। अब वत्सल वियोग की चर्चा अभीष्ट है। संयोग से वियोग की बात हमेशा मार्मिक और हृदयस्पर्शी होती है। सूर का संयोग वात्सल्य जितना विस्तृत और सहज है, उतना ही उनका वियोग वात्सल्य मार्मिक और प्रभावशाली है। उत्कृष्ट संयोग उत्कृष्ट वियोग की प्रशस्त भाव-भूमि तैयार करता है। वैसे तो बाल कृष्ण के संयोग-काल में भी छिटपुट वियोग वात्सल्य के वर्णन मिल जाते हैं, किन्तु, वास्तविक वात्सल्य वियोग की शुरुआत कृष्ण के मथुरा-प्रवास प्रकरण के साथ होती है। सूर के वियोग-वात्सल्य की सम्यक् झलक पाने के लिए हम उसे चार स्थितियों में रखकर देख सकते हैं- कृष्ण का मथुरा-गमन, कृष्ण के बिना नंद आदि का वहाँ से खाली हाथ लौटना, तत्पश्चात् नंद-यशोदा का वार्त्तालाप और उद्धव का ब्रज-आगमन।

मथुरा-प्रयाण के अवसर पर सूर ने यशोदा के बहाने मातृ-हृदय की सर्वाधिक मार्मिक और प्रभावशाली व्यंजनाएँ की हैं। क्रूर कंस के आदेश से कृष्ण और बलराम को लेने आये अक्रूर के आगमन मात्र से माता यशोदा के साथ समस्त ब्रजवासी बिलखने लगे-**देखि अक्रूर नर-नारि बिलखे।** ऐसी स्थिति में माता का मन तरह-तरह से भावी अनिष्ट की कल्पना करता हुआ यह भी सोचता है कि वह अबोध बाल कृष्ण, जिसे अब तक गुरुजनों को प्रणाम तक करना नहीं आया, राजसभा की रीति-नीति को भला कैसे जान सकता है? मथुरा में निवास करनेवाले वे कर-कृपाणधारी हत्यारे असुरगण क्या उसके इस अविनीत आचरण को बरदाश्त कर पायेंगे ?

**ये कहा जानैं राज सभा कौं, ये गुरुजन बिप्रहुँ न जुहारे।**
**मथुरा असुर समूह बसत्र हैं, कर कृपान जोधा हत्यारे।।**

माधव तो निधनी यशोदा के ऐसे एकमात्र धन हैं, जिसे वह पलार्ध मात्र के लिए भी अपने से विलग नहीं कर सकती। इसके लिए तो वह तुरंत कंस की बंदिनी बनने के लिए ही नहीं, निर्विघ्न प्राण-दान तक करने के लिए उद्यत है :-

**मेरौ माई निधनी कौ धन माधौ।**
**बारंबार निरखि सुख मानति, तजति नहीं पल आधौ।।**
**छिनु छिनु परसति अंकम लावति, प्रेम प्रकृत ह्वै बाँधौ।**
**करिहै कहा अक्रूर हमारौ, देहैं प्रान अबाधौ।।**
**सूर स्यामधन हौं नहीं पठवौं, अबहिं कंस किन बाँधौ।।**

निरीहता और विवशता की पराकाष्ठा की व्यंजना हुई है-निधनी कौ धन पदों से। प्राण जाए, लेकिन, वह न जाने पाए। इस समय भावी अनिष्ट की आशंकाओं को

लेकर यशोदा कितनी उद्विग्न और विक्षुब्ध चित्त हो रही है, नहीं कहा जा सकता। सूर के ऐसे मातृ-विषयक उल्लेखों को देखकर यह बेखटके कहा जा सकता है कि कवि ने यशोदा के व्याज से आदर्श भारतीय माता के वात्सल्य रति-सागर की लहरों को गिनकर रख दिया है। यह मैं कोई नई बात नहीं कह रहा हूँ, आचार्य शुक्ल वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का कोना-कोना अंधे सूर से झँकवाकर पहले ही कह चुके हैं। ऐसा कहना संगत जान पड़ता है, कि यदि कवि के काव्य में विषय-विस्तार होता तो शायद उसमें इतनी गहराई न मिलती। आचार्य शुक्ल के **'कोना-कोना'** पद-प्रयोग का आशय भावों की सूक्ष्मतम स्थितियों की पहुँच से ही है। शब्दान्तर से आचार्य शुक्ल ने अपनी इसी बात को खोलते हुए लिखा है- **उक्त दोनों के प्रवर्तक रति-भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं।** लगता है, सूर वात्सल्य और शृंगार-सागर के सर्वश्रेष्ठ पारदर्शक कर्णधार हैं।

पुत्र के मथुरा-प्रयाण के समय गोकुल में एक भी ऐसा सहायक नहीं दीख रहा है, जो कृष्ण को मथुरा जाने से रोक सके :-

**जसोदा बार-बार यौं भाषै।**
**है कोउ ब्रज मै हितू हमारौ, चलत गुपालहिं राखै।।**

'बार-बार' की व्यंजना बड़ी मार्मिक है। कम कष्ट की स्थिति का व्यक्ति अधिक से अधिक अपनी सहायता के लिए एक-दो बार आवाज़ लगाकर प्रायः चुप लगा जाता है, लेकिन, जिसका सर्वस्व हरण हो रहा है, वह बारंबार आवाज लगाये बिना रह ही नहीं सकता। पराकाष्ठा की पीड़ा की ऐसी दशा में जो सहायता के लिए आगे आए वही सच्चा हितैषी है। इसलिए, यशोदा इस गंभीरतम संकट के समय अपने हितैषियों को ललकारती भी है। यह पूरा पद **गच्छत्प्रवास** का उत्कृष्ट उदाहरण है।

मथुरा जाने को तैयार कृष्ण को देखकर मातृ-हृदय के सुकोमल भावों की बड़ी मार्मिक व्यंजना करते हुए कवि ने यह बताया है कि किसी आदर्श माता की सर्वोपरि अभिलाषा यही तो होती है कि उसका बेटा उससे अलग होकर भी कम से कम उसे अपनी माँ तो मानता ही रहे। चलते-चलते वह प्रियतम पुत्र से अपनी ओर तथा अपनी जन्म-भूमि (जनम कौ खेरौ) की ओर निहार लेने की अदम्य आकांक्षा को अनुनयपूर्वक यों प्रकट करती है :

**मोहन नैकु बदन तन हेरौ।**
**राखौ मोहिं नात जननी को, मदनगुपाल लाल मुख फेरौ।।**
**बिछुरन भेंट देहु ठाढ़े ह्वै, निरखौ घोष जनम कौ खेरौ।**

आखिर कृष्ण मथुरा चले ही गये। यशोदा को यह भरोसा था कि कृष्ण नंद के साथ गोकुल वापस आ जायेंगे। किंतु, ऐसा हुआ नहीं। नंद खाली हाथ ब्रज लौटे। तब यशोदा पीड़ाधिक्य की उत्तेजना में आकर नंद को बुरा-भला बिना यह समझे कहने

लगी है कि वे भी ऐसा करने के लिए विवश थे और उनकी भी दशा उससे भिन्न बिल्कुल नहीं है :-

**जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै।**
**फूटि न गई तुम्हारी चारौ, कैसे मारग सूझै।।**
**एक तौ जरी जात बिनु देखैं, अब तुम दीन्हौं फूँकि।**
**यह छतिया मेरे कान्ह कुँवर बिनु फटि न भई द्वै टूक।**
**धिक तुम धिक ये चरन अहौ पति, अघ बोलत उठि धाए।**
**सूर स्याम बिछुरन की हम पै, दैन बधाई आए।।**

जब कृष्ण ने कंस और उसके सहयोगियों को समाप्त करने के बाद भी ब्रज की ओर रुख नहीं किया तो प्रिय के इस प्रवास-काल में उन (कृष्ण) की प्रिय वस्तुओं को देखकर ही यशोदा भाव-विह्वल हो जाती है। खानेवाले के अभाव में अब मक्खन शूल की भाँति पीड़ित कर रहा है- **सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।** पुत्र-प्रेम की इस वियोग-व्यथा से जैसे-तैसे अपने दिन भरती यशोदा कृष्ण के प्रति समुचित संरक्षण की चिन्ता से उत्प्रेरित हो देवकी के पास जो संदेश भिजवाती है, वह इस प्रकार है :-

**सँदेसौ देवकी सौं कहियौ।**
**हौं तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ।।**
**जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।**
**प्रात होत मेरे लाल लड़ैतै, माखन रोटी भावै।।**

'**तऊ मोहिं कहि आवै** पदों से सात्त्विक और विशुद्ध मातृ-हृदय की अद्वितीय व्यंजना हो रही है। आचार्य शुक्ल ने इस उक्ति के मर्म को अत्यन्त सटीक शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है :-

**यशोदा के प्रेमपूर्ण हृदय में यह बात जल्दी नहीं बैठती कि कृष्ण के सुख का ध्यान जितना वे रखती थीं उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। रसमग्न हृदय ही ऐसी दशाओं का अनुभवकर सकता है।**[1]

इसके बाद तो उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर ब्रज-पधारते हैं तो कृष्ण के आगमन की रही-सही आशा पर भी पानी फिर जाता है। उद्धव-आगमन-प्रकरण का वियोग-वात्सल्य संक्षिप्त होते हुए भी मर्मस्पर्शी बहुल है।

इनके अतिरिक्त भी अष्टछाप-काव्य के अधिकारी विद्वान् डॉ. दीनदयालु गुप्त ने सूर-काव्य में करुण वात्सल्य की स्थिति उस दशा में मानी है जब कृष्ण कालीदह में कूद पड़ते हैं और बड़ी देर तक निकलते नहीं हैं। यशोदा की उस समय की दशा को

---

1. सूरदास, पृ. 105, दसवाँ संस्करण

वे करुण वात्सल्य मानकर यह बताते हैं कि जब वत्स पर कोई मर्मांतक घटना घटती है तभी ऐसी अवस्था होती है।[1]

इस प्रकार, निचोड़ यही कि सूर का वात्सल्य-चित्रण अतिशय विस्तृत और विशद होने के साथ अतिशय तलस्पर्शी, बाल-मनोविज्ञान-मंडित, मातृ-मनोभावों का मानदंड और अनोखी मौलिकता की पहचान करानेवाला है।

इनके अलावा, सूर सख्य-भाव के भी बेजोड़ कलाकार हैं। कवि स्वयं अपने आराध्य का सखा बनकर उनकी ऐसी लीलाओं का रस-पान करना चाहता है। कृष्ण के बाल-सखा हैं, बलराम, श्रीदामा और ढेर सारे ग्वाल-बाल, जिनके बीच उनकी लीलाओं का सारा कार्य-क्रम घटित होता है। उनके ये बाल-सँघाती कभी उन्हें चिढ़ाते (छेड़ते) हैं, कभी उनके श्याम रंग पर फबती कसते हैं और कभी गोचारण-काल में उनसे अपनी गायें भी घिरवाते हैं। कवि ने सखा-भाव के अन्तर्गत कृष्ण की लौकिक और अलौकिक दोनों तरह की लीलाओं का वर्णन किया है। गोचारण के समय कृष्ण अनेक असुरों को मारकर अपने सखाओं से प्रियता अर्जित करते हैं। उधर राधा के साथ अन्य प्रेमोन्मादिनी ब्रज-बधूटियाँ भी कृष्ण की इन लीलाओं में अपने ढंग से रस लेती हैं। आगे बढ़कर यही मनोभाव माधुर्य (शृंगार) रस में परिणत हो जाता है। कवि कृष्ण के गोचारण-काल की रूपश्री का अंकन करते अघाता नहीं। यद्यपि कृष्ण का रूप-माधुर्य उनके सखाओं के ऊपर उतना असर नहीं डाल पाता तथापि उनके प्रति उनमें एक ऐसी भावातिरेकी आत्मीयता पायी जाती है, जिससे उत्प्रेरित हो वे उनसे **छबीले मुरली नैंकु बजाउ** जैसी अनेक मनोकामनाओं की पूर्ति हेतु निवेदन करते ही रहते हैं। ऐसे अवसरों पर कवि की सख्य-भावना बहुत प्राणवान् हो जाती है। वन में घटित होनेवाली आकस्मिक और अलौकिक घटनाएँ कृष्ण के इन बाल-सँघातियों को थोड़ी देर के लिए विस्मित और आशंकित तो अवश्य करती हैं, किन्तु, उनका स्थायी प्रभाव न पड़ने से बाद में वे आनंद में बदल जाती हैं।

अंत में, कृष्ण जब मथुरा जाकर अपने प्रेम के इन दीवाने सखाओं की कोई खोज-खबर नहीं लेते तो क्षुब्ध हो वे अपनी प्रतिक्रिया इन शब्दों में व्यक्त करते हुए कहते हैं :-

**भये हरि मधुपरी-राजा, बड़े बंस कहाय।**
**सूत मागध बदत विरुदहिं, बरनि बसुद्यौ तात।**
**राज भूषन अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात।।**

इस कथन की व्यंजना यही है कि मथुरा के राजत्व और उसके चाकचिक्य के प्रभाव में आकर कृष्ण ने हमें अपने से काफी छोटा पाकर उपेक्षितकर दिया है।

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (पंचमभाग), पृ. 66

## शृंगार रस

महिमा की दृष्टि से भारतीय साहित्य-चिंतकों नें शृंगार को मानवी सृष्टि का आदि रस, समस्त रसों का शिरोमणि रसराज, मानव मात्र के मधुरतम भाव प्रेम से संयुक्त होने के कारण सर्वाधिक आनंदप्रदायी, देश, काल, जाति, पद आदि के प्रतिरोधों से मुक्त होने के कारण सार्वजनिक और सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से लेकर कीट-पतंगों आदि तक में पाये जाने के कारण सर्वव्यापक माना है। इसलिए, उसकी इस अगाध सर्वव्यापकता के पेट में सभी रस समा जाते हैं, यहाँ तक कि वात्सल्य रस भी। भक्ति-साहित्य में यह शृंगार रस भक्ति रस, मधुर रस और उज्ज्वल रस आदि नामों से प्रतिष्ठित हुआ। ध्यातव्य है कि राधा-कृष्ण परस्पर उस मधुर रस के आलंबन हैं, जिसके स्थायी भाव का नाम माधुर्य रति है। सूर-काव्य में वात्सल्य की अपेक्षा माधुर्य रति की मुख्यता के कारण शृंगार रस का प्राधान्य है। सूर के शृंगार-चित्रण की व्यापकता और गहराई को देखकर आचार्य शुक्ल ने लिखा है– **यदि सूरसागर को हम रससागर कहें तो बेखटके कह सकते हैं।** इसलिए, सूर को शृंगार का पूर्ण प्रतिष्ठापक महाकवि माना जाता है। उन्होंने शृंगार के संयोग और वियोग पक्षों का अनोखा चित्रण किया है।

## संयोग शृंगार

संयोग शृंगार में आभोगमूलकता का प्राधान्य होता है। इसी कारण इसमें नायक-नायिका के परस्पर अनुकूल दर्शन, स्पर्शन, आलिंगन, चुंबनादि व्यापारों की परिगणना प्रमुख रूप से की जाती है। संयोग का मुख्याधार बहिरिन्द्रयसन्निकर्ष ही होता है, क्योंकि इसके बिना आलिंगन, सुख, रस-चेष्टा, स्पर्श आदि व्यापारों की स्थिति संभव नहीं होती। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि जब शृंगार में नायक-नायिका के परस्परानुराग को अनन्य अनुकूल भाव से दिखाया जाता है, तभी उसे हम शृंगार के अंतर्गत मानते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से आलंबन और आश्रय में से किसी एक में उस रति का एकदम अभाव या उसे न्यूनाधिक मात्रा में दिखाने को संयोग शृंगार न कहा जाकर शृंगार का रसाभास ही कहा जायेगा। दूसरे शब्दों में इसे सम प्रेम या भारतीय वृत्ति का प्रेम कहते हैं। सूर-काव्य में चित्रित प्रेम के आलंबन और आश्रय में प्रीति की यही सम वृत्ति मिलती है।

## सूरदास कहु कैसों निबहै एक ओर को नेहा।

कहना न होगा कि सम्भोग शृंगार के प्रायः सभी प्रकारों और प्रवृत्तियों के चित्र सूर-काव्य में बखूबी मिलते हैं। सूर ने जिस प्रेम-भाव का वर्णन किया है उसकी एक बड़ी विशेषता यह भी है कि वह सहसा यौवनोन्माद की देन न होकर, बाल-काल से अत्यंत सहजरूप में चले आते हुए सतत् सम्पर्क के उत्तरोत्तर विकास का परिणाम है। चूँकि यह प्रेम आलंबन और आश्रय के सहचरण से उत्पन्न हुआ है, इसलिए, उसे

सहचारी प्रेम भी कहा जाता है। कवि की दृष्टि में **लरिकाई** से विकसित प्रेम का प्रभाव अछूट और अटूट होता है:–

**लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि! कैसे छूटै ?**

इसलिए, इसे हम स्थायी अनुराग या मंजिष्ठा राग का प्रेम भी कह सकते हैं। आचार्य शुक्ल ने ऐसे प्रेम की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए लिखा है- **इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या विप्लव के रूप में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबंधों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लंबी-चौड़ी कथा खड़ी होती है।** कृष्ण के बचपन की साथी राधा और गोपियाँ उनके यौवन-काल में प्रेमिकाएँ बन जाती हैं। फिर, तो राधा-कृष्ण और गोपियों का यह प्रेम अनन्य रूप धारण कर लेता है। अपने इन प्रेमियों के लिए कृष्ण संसार के समस्त सुखों के मूर्तिमान स्वरूप बन जाते हैं। कवि के श्रृंगार-चित्रण की दूसरी बड़ी विशेषता है आलंबन विभाव के साथ उत्कृष्ट कोटि के उद्दीपन विभाव की संयोजना। इसके अंतर्गत करील-कुंजों से आवृत कालिंदी तट, ज्योत्स्ना की धवलिमा, त्रिविध पवन, कोकिल-कूजित कदम्ब आदि श्रृंगार के रसोपकारी उद्दीपक वस्तुओं का मनोज्ञ चित्रण किया गया है :

**मानौ माई घन-घन अंतर दामिनि।'**
**घन दामिनि, दामिनि घन अन्तर, सोभित हरि ब्रज-भामिनि।।**
**जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई जामिनि।**

जब तक कृष्ण वृंदावन में यमुना-तट पर गोप-गोपियों के साथ क्रीड़ा और रासलीला कर गोकुल में निवास कर रहें थे तब तक की उनके जीवन की लीलाएँ संयोग-श्रृंगार का अंग मानी जायेंगी। राधा और कृष्ण का प्रथम मिलन (Love at first sight) अत्यंत स्वाभाविक और नाटकीय ढंग से होता है। कृष्ण ब्रज की गलियों में खेलते हुए निकलते हैं और रोली लगे भाल और विशाल नयनोंवाली राधा से अचानक भेंट हो जाती है :-

**खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।**

तो देखा :-

**औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।**

फिर क्या था, ऐसी अनूठी रूप-राशि को देखते ही कृष्ण ऐसे रीझे (मुग्ध हुए) कि नेत्रों ने नेत्रों से मिलकर जादू ही कर दिया :

**सूर स्याम देखत ही रीझे, नैने-नैन मिलि परी ठगोरी।**

फिर तो, परिचय के लिए पूछ-ताछ शुरू हो गयी :

**बूझत स्याम कौन तू गोरी.**
**कहाँ रहति काकी तू बेटी, देखी नाहिं कबहुँ ब्रज खोरी।।**

राधा अत्यंत स्वाभाविक स्वर (टोन) में इसके उत्तर में कहती है :

**काहे कौ हम ब्रजतन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।**

साथ ही कृष्ण पर व्यंग्य करते हुए राधा ने यह और कहा :

**सुनति रहति स्रवननि नँद-ढोटा, करत रहत माखन दधि चोरी।**

इस पर कृष्ण राधा से मीठी बातें कर उसे फुसलाते हुए कहते हैं :

**तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।।**

आखिर भोली राधा रसिक-शिरोमणि कृष्ण की मधुर बातों के भुलावे में आ ही गयी :-

**सूरदास प्रभु-रसिक-सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी।**

धीरे-धीरे उनका प्रेम पल्लवित होने लगा। दोनों नेत्रों की भाषा में बातें करने लगे। गुप्त प्रेम प्रकट हो गया। कृष्ण ने राधा को अपने घर आने का न्योता देते हुए कहा :

**प्रथम सनेह दुहुँनि मन जान्यौ।**
**नैन-नैन कीन्हीं सब बातैं, गुप्त प्रीति प्रगटान्यौ।।**
**खेलन कबहुँ हमारै आवहु, नंद-सदन, ब्रज गाउँ।**
**द्वारैं आइ टेरि मोहिं लीजौ, कान्ह हमारौ नाउँ।।**

इसके बाद तो नागरी (निपुणा) राधा मदनमोहन के मोह-मंत्ररूपी प्रेम में उलझकर ऐसी चंचल चित्त और आकुल-व्याकुल हुई कि घर, खान-पानादि भूल कभी मुसकराने, कभी रोने और कभी संकुचित-लज्जित होने लगती है :

**नागरि मन गई अरुझाइ।**
**अति बिरह तन भई व्याकुल, घर न नैकु सुहाइ।।**
**स्याम सुन्दर मदनमोहन, मोहिनी सी लाइ।**
**चित्त चंचल कुँवरि राधा, खान-पान भुलाइ।।**
**कबहुँ बिहँसति कबहुँ बिलपति सकुचि सहित लजाइ।**

सूर के संयोग शृंगार की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि संयोग और वियोग की स्थितियाँ साथ-साथ घटित होती हैं। सूर की राधा ही नहीं, कृष्णानुरागिनी सभी गोपियों में कृष्ण से सतत मिलते रहने की इतनी अधिक अकुंठ और अदम्य भावना भरी होती है कि उनसे यदि थोड़ी देर मात्र के लिए भी कृष्ण वियुक्त होते हैं तो उनकी बड़ी दुर्दशा हो जाती है। बिछोह तो मिलन की गोद में पलता है। संयोग की उद्‌दामता ही उद्‌दाम विरह का आकार ग्रहण करती है।

धीरे-धीरे राधा-माधव की प्रीति प्रगाढ़ होने लगती है। आये दिन दोनों साथ-साथ खेलकर, एक दूसरे के घर का चक्कर लगाकर, एक-दूसरे के काम में हाथ बँटाकर और बीच-बीच में हास-परिहास, मनोविनोद तथा नोंक-झोंककर अपने साहचर्य

रस से अपनी प्रेम-पौद को सींचकर पल्लवित करने लगते हैं। सूर ने गोदोहन प्रकरण में राधा-माधव मिलन के बड़े मार्मिक तथा भावमय चित्र प्रस्तुत किए हैं। किशोर-किशोरी के हृदयों में पैठकर स्नेह-भावों की ऐसी अकृत्रिम और अनूठी भाव-तरंगें उठाने को देखकर कहा जा सकता है कि ऐसे वर्णन सारे कृष्ण-काव्य में दुर्लभ हैं। राधा ने एक दिन कृष्ण से गाय-दुहने की प्रार्थना की। दुहते समय कृष्ण बढ़ी हुई माधुर्य रति का कैसा आनंद ले रहे हैं, यह उद्‌भावना निश्चय ही लाजवाब है :

**धेनु दुहत अतिही रति बाढ़ी।**
**एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।।**
**मोहन कर तें धार चलत पय, मोहनी मुख अति ही छबि बाढ़ी।**

दूध की एक-एक धार को क्रमशः त्रैलोक्य-मोहिनी राधा के मुँह में पहुँचाना माधुर्य रति की विलक्षण व्यापार-व्यंजना है। दूध की श्वेत छींटों के पड़ने से मोहिनी का मुख कितना और अधिक मोहक हो उठा है, इसे भी कवि भूला बिल्कुल नहीं है। राधा को सामने पाकर कृष्ण में जो अतिशायी और अकृत्रिम प्रेमस्पंद हुआ उससे उनके हाथ काँपने लगे। इसलिए, दूध-धार अभीष्ट जगह पर न गिरकर इधर-उधर गिरने लगी। शास्त्रीय दृष्टि से इसे कंप सात्त्विक कहते हैं। इस पद की यह एक अतिरिक्त और मार्मिक विशिष्टता है। फिर तो, राधा कृष्ण की दूध-दुहने की इस शैली पर फबती कसती हुई बोली- तुमसे गाय दुहाये कौन्? देखते इधर को हो और धार उधर को निकालते हो। क्या तुम्हारी माँ ने ऐसी ही करनी की सीख दी है :–

**तुम पै कौन दुहावै गैया ?**
**इत चितवत उत धार चलावत, एहि सिखयौ है मैया।।**

कहना न होगा कि इस महाकवि ने राधा-माधव के अनुराग की तन्मनस्क दशा के अत्यंत प्रगाढ़ और प्रगल्भ चित्र अंकित किए हैं। पराकाष्ठा की मानसिक तल्लीनता का एक ऐसा ही उदाहरण द्रष्टव्य है, जिसमें राधा सामने खड़े माधव के विधु-वदन के दर्शन का सुख लूट रही है, फिर भी यह मिलन झूठ (सपनौ) है या सच है की उसकी दुहेली और वितर्कमयी बुद्धि को प्रतीति नहीं हो पा रही है। यद्यपि रूप-परम-निधि कृष्ण के अनंत रूप को लोचनों में भर-भरकर राधा अपने हृदय में धारण कर रही है तथापि वह विरह-विकल भी उसी समय होती जा रही हैं। प्रेम की इस द्वन्द्वमयी स्थिति को स्वयं कवि ने **प्रेम की अटपटी** बात कहा है :

**राधेहिं मिलेहूँ प्रतीति न आवति।**
**जदपि नाथ बिधु बदन बिलोकत, दरसन कौ सुख पावति।।**
**भरि-भरि लोचन रूप परम निधि, उर मैं आनि दुरावति।**
**बिरह-बिकल मति दृष्टि दुहूँ दिसि, सँचि सरधा ज्यौं धावति।।**
**चितवत चकित रहति चित अंतर, नैन निमेष न लावति।**
**सपनो आहि कि सत्य ईस यह,बुद्धि बितर्क बनावति।।**
**सूर प्रेम की बात अटपटी, मन तरंग उपजावति।।**

हिन्दी में भक्त-प्रवर घनानन्द ने **मिलेहू मैं मारै-जारै खरक बिछोह की** के आधार पर ऐसे घनीभूत अनुराग का बहुविध रेखांकन किया है। प्रेम की इस दशा को आचार्य वल्लभ ने व्यसन नाम दिया है।

पराकाष्ठा के संयोग-सुख की परिणति रासलीला में होती है। कृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं। उनकी लीलाओं में सर्वाधिक मधुर रासलीला ही है। ब्रज-गोपिकाएँ ही इस लीला की एकान्त अधिकारिणी मानी गयी हैं। इस रासलीला से गोपियों की प्रेम-लक्षणा-भक्ति का निष्पादन होता है, ऐसा उस भागवत का मत है, जिसके स्रोत से सूर का समग्र कृतित्व अभिसिंचित हुआ है। रासलीला-विषयक् भागवत की मान्यताओं को देखने पर सूर-वर्णित रासलीला के इस रहस्य का भी उद्‌घाटन होता है कि कृष्ण उस (रासलीला) की मध्य स्थिति से ग़ायब होकर गोपियों को तीव्र विरह का अनुभव क्यों कराते हैं ? यद्यपि कवि ने इसका कारण देते हुए यह बताया है कि गोपियों के गर्व करने के कारण ऐसा घटित हुआ तथापि ऐसा होने का भागवताधारित साम्प्रदायिक (पुष्टिमार्गीय) कारण एक और है। भागवत में यह माना गया है कि भ्रमरगीत या उद्धव-गोपी-संवाद से जहाँ मात्र वियोग-भक्ति का ही उद्रेक होता है, वहाँ रासलीला संयोग और वियोग दोनों का समन्वित स्वरूप प्रस्तुत करती है। इस लीला में, आरंभ में, संयोग, मध्य में प्रखर वियोग और आखिर में पूर्ण संयोग घटित होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इसे ही आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य माना गया है। यह तरीका अपनाकर जीव **'काम'** रोग से मुक्त हो सकता है।

स्त्री-पुरुष जब परस्पर हाथ पकड़ और मण्डली बनाकर झूमते, गाते और नाचते हैं, तब इसी को रासलीला कहते हैं। कृष्ण ने ब्रज-बालाओं के साथ यहाँ रासलीला की। वृंदावन की सुषमा और सौंदर्य से आपूरित समग्र प्रकृति भी इस लीला में कम सहयोग नहीं देती है। इस में भाग लेनेवाली गोपियाँ कृष्ण के अनन्य प्रेम को पाकर आनंदातिरेक से फूली नहीं समाती हैं। वे अपने प्रेम पर गर्व करने लगती हैं। कृष्ण इसे ताड़कर राधा-सहित अन्तर्धान हो जाते हैं। ऐसी दशा में कृष्ण-वियुक्ता गोपियाँ आकुल-व्याकुल हो वृंदावन की लता-वल्लरियों तक से कृष्ण को पूछती फिरती हैं। बाद में राधा भी इस गर्व का शिकार होकर कहती है-**मो समान तिय और कोउ, गिरधर मैं ही बस करि पायौ।** राधा कृष्ण से क़हती हैं- रास-नृत्य की थकान मिटाने के लिए मुझे अपने कंधे पर बिठा लीजिए। कृष्ण इसे भी उसका गर्व समझ उससे विलग हो जाते हैं। फिर तो, अधीर और आर्त हो राधा तथा सभी गोपियाँ गर्वच्युत हो कृष्णानुग्रह प्राप्ति की प्रार्थना करती हैं। प्रसन्न हो कृष्ण पुनः उनसे मिलकर उन्हें आनंद-आह्लाद से भर देतें हैं।

कहना न होगा कि रासलीला की नाना स्थितियाँ सम्भोग श्रृंगार की नाना रमणीय भाव-भंगिमाओं का उद्‌घाटन करती हैं। **हँस-हँसकर वचन रस-वर्षा, नयनों**

**के संकेत से हाव-भाव का प्रदर्शन, अंगों का केलिपूर्ण संचालन, अधर-रस-पान, परिचुम्बन, नाना राग-रागिनियों का विलास, असंख्य नृत्य-भेदों का प्रदर्शन इत्यादि अगणित चित्रण सूर के श्रृंगार-संसार को अतिशय मोहक बना देते हैं।**[1]

सूर-काव्य में संभोग-चित्रों में बड़ी स्वच्छंदता और उन्मुक्तता पाई जाती है। ये वर्णन भारतीय काव्य—रूढ़ियों से अछूते नहीं होते। सूर ने चीर-हरण, रास, जल, पनघट, दान, ग्रीष्म, मान, हिंडोल; वसंत आदि लीलाओं तथा मुरली, दंपती-विहार आदि प्रकरणों के माध्यम से राधा-कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण की संयुक्त क्रीड़ाओं की मार्मिक अभिव्यंजनाएँ की हैं। वचन विदग्धा, क्रियाविदग्धा, मानवती आदि अनेक नायिकाएँ भी कवि के संयोग श्रृंगार की अंग मानी गयी हैं। यद्यपि पुष्टिमार्गीय भक्ति में स्वकीया प्रेम को ही प्रथित माना गया है और उसी का अनुसरण करते हुए सूर ने उसी का वर्णन भी अधिक किया है तथापि परकीया भक्ति के भी अनेक उदाहरण कवि की रचनाओं में मिलते हैं। सवाल है कि यह संप्रदायेतर परकीया-भाव आया कहाँ से इसका जवाब देते हुए डॉ. प्रेमस्वरूप ने लिखा है—**अष्टछापी परकीया-भाव चैतन्यीय परकीया-भाव न होकर भागवतीय परकीया-भाव है। भागवत की गोपिकाएँ ही सीधी अष्टछाप में अवतरित हुई हैं।**[2] इस तरह के वर्णनों में विवशता, पश्चात्ताप, अतृप्ति, लालसा, हर्ष आदि जैसे भाव भी पाये जाते हैं।

इस प्रकार, सूर ने संयुक्त प्रेम-मनोभावों का अत्यंत विशद और व्यापक चित्रण किया है, जिसकी श्लाघा करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है-**सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-संगीतमय जीवन की एक गहरी धारा है, जिसमें अवगाहन करनेवाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता है।**[3]

## विप्रलंभ श्रृंगार

वियोग की अवस्था में भी जहाँ नायक-नायिका का पारस्परिक प्रेम हो वहाँ विप्रलंभ श्रृंगार होता है। मानव मनोभावों के विलक्षण अन्तर्यामी कविवर सूर ने संयोग और वियोग की सापेक्ष स्थिति के महत्त्व को गोपियों के व्याज से उद्धव को अवगत कराते हुए बताया है कि विरह भी प्रेम का प्रवर्धन करता है। जैसे किसी रँगे जाने वाले वस्त्र में तब तक कोई पक्का रंग (Fast) नहीं चढ़ता, रंग की पक्की व्याप्ति कपड़े पर तब तक नहीं हो पाती, जब तक रँगने में इस्तेमाल होनेवाला पुट यथाभीष्टरूप में न हो, वैसे विरह का संताप प्रेम को परम पक्का (सुदृढ़ और स्थायी) बनाता है, जैसे कोई बीज मिट्टी में गिरकर और उसकी गर्मी खाकर अंकुरित होता है और फिर वृक्ष

1. सूर-संकलन, डॉ. रमाशंकर तिवारी, पृ. 43
2. हिन्दी वैष्णव-साहित्य में रस-परिकल्पना, पृ.284
3. सूरदास-पृ. 182

बनकर सैकड़ों फल देता है, जैसे कोई घड़ा (कच्चा) आवाँ में अपने को तपाकर ही जल, दूध या अमृत धारण करने योग्य बना पाता है और जैसे युद्ध में योद्धा सामने से बाणों का प्रहार झेलकर सूर्य-रथ को रोकने में समर्थ होता है, वैसे ही विरह की चरम व्यथा को झेले बिना जब कोई प्रेमी प्रकृष्ट प्रेमामृत-पान का अधिकारी नहीं होता तो हमें (गोपियाँ) भी कृष्ण-प्रेम-पथ पर सुख-दुःख से निर्भीक और निरपेक्ष होकर चलना चाहिए। द्रष्टव्य है कवि की वियोग-माहात्म्य-विषयक् यह धारणा :-

**ऊधौ बिरहौ प्रेम करै।**
**ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रँग को, रंग न रसै परै।।**
**ज्यौं धर दहै बीज अंकुर गिरि, तौ सत फरनि फरै।**
**ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि पय अमी भरै।।**
**ज्यौं रन सूर सहै सर सन्मुख, तौ रबि रथहुँ अरै।**
**'सूर' गुपाल प्रेमपथ चलि करि, क्यौं दुख सुखनि डरै।।**

विप्रलंभ पक्ष की कुछ ऐसी ही श्लाघा करते हुए उन्नीसवीं शती उत्तरार्ध के कविवर लछिराम ने लिखा है कि जिस प्रकार कोई धूप में तपे बिना छाया-सुख का अनुभव नहीं कर सकता और भूख से व्याकुल हुए बिना भोजन का सच्चा स्वाद नहीं बता सकता, उसी प्रकार वियोग-व्यथा सें व्यथित हुए बिना कोई संयोग-सुख का आनंद नहीं उठा सकता।[1]

मूल भाव की दृष्टि से सूर और लछिराम में कोई अन्तर नहीं है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विरह की दुःखानुभूति ही संयोग की सुखानुभूति का कारण होती है। दूसरे शब्दों में, संयोग के माधुर्य का सच्चा आस्वादक विरह ही है। बात यह है कि संयोग कां सातत्य प्रेमियों को एकरसता से बाँध देता है, नवीनता और ताजगी तो उसमें विरह ही ला सकता है। कवियों के कवि कालिदास ने इस संदर्भ में बहुत सतर्क होकर लिखा है-न जाने क्यों लोग यह कहा करतें हैं कि विरह में प्रेम कम हो जाता है किन्तु, सच्चाई तो यह है कि जब चाही हुई वस्तुएँ नहीं मिलतीं तभी उन्हें पाने की प्यास बढ़ जाती है और ढेरों स्नेह-रस आकर इकट्ठा हो जाता है।[2] आशय यह कि वियोग में प्रेम जहाँ एकत्र होता है वहाँ इसके विपरीत, संयोग-काल में प्रेम का भोग होता रहता है, इसलिए, वह चुक जाता है। चुकने की क्रमशः यह प्रेम-स्थिति बराबर हमें उसकी नीरसता और फीकेपन की ओर ले जाती है। दाम्पत्य प्रेम में, जो प्रायः संयोगोन्मुखी स्थिति में देखा जाता है, इसी कारण उतनी उत्कटता,

1. आतप ताप तपै जब लौं नहिं, तौ लौं न छाहँ को छेम गनावै।
हायल जौ लौं क्षुधातुर होय न, तौ लौ न भोजन स्वाद बतावै।
मानत है लछिराम सही, सब संमत यों ही बिचार मैं आवै।
जौ लौं बियोग बिथा न सहै, तब लौं न सँजोग को आनंद पावै।।

2. स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगादिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति। उ.मे., 55

उद्दामता और तीव्रता नहीं देखी जाती, जितनी वियोग संकुल प्रेम में। तात्पर्य यह कि संयोग की एकरसता से बचने के लिए वियोगानुभूति आवश्यक होती है। चूँकि प्रेम की नवनवोन्मेषता वियोग पर ही आधारित होती है, इसलिए, रूपगोस्वामी का कहना है कि **विप्रलंभ के बिना संयोग की स्थिति को पुष्ट नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह संयोग को सुखमय करनेवाला होता है।**[1] सूर इसका अनुमोदन करते हुए इससे आगे बढ़कर यह तक मानते हैं कि विरह-दुःख जहाँ थोड़ा–सा भी नहीं पाया जाता वहाँ प्रेम पैदा ही नहीं होता। तात्पर्य यह कि विरह ही प्रेमोत्पादक तत्त्व होता है। विरहाभाव में किसी संयोग-सुख के अस्तित्व की कल्पना तक नहीं की जा सकतीः–**बिरह दुख जहँ नाहि नैकहुँ, तहँ न उपजै प्रेम।**

सूर ने वियोग श्रृंगार का इतनी सूक्ष्मता, मार्मिकता और व्यापकता से चित्रण किया है कि आगे आनेवाले कवियों को उसमें नया कहने के लिए कुछ भी अनकहा नहीं रखा। आचार्य शुक्ल की उक्ति **कोना-कोना झाँक आये हैं** की सूक्ष्म व्यंजना मेरे उक्त कथन का संपूर्णतः समर्थन करती है। जो कवि विरह से ही प्रेमोत्पत्ति मानता हो, उसके विप्रलंभ-चित्रण की महिमा का थोड़ा-बहुत एहसास तो किया ही जा सकता है। सही बात तो यह है कि अपनी सांद्र और मार्मिक अनुभूतियों का अक्षय भण्डार होने के नाते वियोग ही श्रृंगार को रसराजत्व की कोटि तक पहुँचता है।

सूर-काव्य में वियोग श्रृंगार की कुल तीन तरह की लघु-दीर्घ भूमिकाएँ नज़र आती हैं। इनमें पहली तो वही, जिसे हम संयोग में वियोग या संयोगाश्रित वियोग कह सकते हैं और जिसमें राधा और सभी गोपियाँ ब्रजवासी कृष्ण से बार-बार मिलकर बार-बार उनसे बिछुड़ने का कष्ट भोगती हैं तथा कभी कृष्ण के दर्शन-काल में भी वे विरह-विकल दीखती हैं–**राधेहिं मिलेहुँ प्रतीति न आवति।** ऐसी स्थिति में संयोग और वियोग दोनों एक ही समय में घटित होते हैं। कहना न होगा कि संयोग और वियोग की ऐसी एक कालव्यापिनी सम्मिश्र स्थिति संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में तो नहीं मिलती, किन्तु, हिन्दी के आचार्य भिखारीदास और लछिराम ने अपने लक्षण-ग्रंथों में संयोग में वियोग और वियोग में संयोग नाम से ऐसी स्थितियों पर विचार अवश्य किया है।[2] लगता है, हिन्दी में इस मान्यता की परंपरा सूर या उनसे पूर्व से चली आ रही थी। कवि-द्वारा वर्णित इस दोहरी (संयोग-वियोग मिश्र) दशा को हम संयोगाश्रित वियोग इसलिए मानते हैं, क्योंकि उक्त दोनों दशाओं में हर तरह से संयोग का प्राधान्य होता है। कवि के काव्य की इस स्थिति को हम आचार्य मम्मट के उस अभिलाष-हेतुक विप्रलंभ के खाते में भी नहीं डाल सकते, क्योंकि इसका क्षेत्र भी

1. न विना विप्रलंभेन संभोग पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते।। उज्ज्वलनीलमणि, पृ. 560
2. अ-रससारांश छं. 254
ब-कहुँ संयोग में होत हैं, बिप्रलंभ अवतार। बिप्रलंभ में होत कहुँ, सुभ संजोग सिंगार।
मुनीश्वरकल्पतरु 7/56

पूर्वराग की भाँति ही, प्रिय-मिलन से पूर्व की तन्मय अभिलाष-वृत्ति तक ही परिमित होता है। इस दृष्टि से, कवि के काव्य में संयोग-वियोग की साथ-साथ घटित होती हुई स्थितियाँ उसमें नहीं अँट सकतीं।[1] प्रमाण के लिए दो पदों की टेक प्रस्तुत– **राधेहिं मिलेहुँ प्रतीति न आवति। देखेहुँ अनदेखे से लागत।** लेकिन, सूर-काव्य के अधिकाँश मनीषी अध्येताओं ने इसे पूर्वराग मानकर इसके अंतर्गत जिन प्रमुख प्रकरणों का उल्लेख किया है, उनके नाम हैं-राधा-माधव-मिलन, गोदोहन, गारुड़ी–लीला, राधा-कृष्ण-प्रेम, सुख-विलास आदि।

वल्लभाचार्य ने प्रेमा भक्ति में विरह को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इस विरह-दुःख के लिए उनमें कितनी गहरी लालसा है, उनके शब्द उसे यों व्यक्त करते हैं :

**यच्च दुःखं यशोदायाः नंदादीनां च गोकुले।**
**गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित।।**[2]

महाप्रभु वल्लभ के इस स्वरूप को ध्यान में रखते हुए श्रीहरिराय ने **वल्लभशरणाष्टक** में उन्हें वियोगाग्नि का साकार रूप माना है। ध्यातव्य है कि वल्लभ ने अपने उपर्युक्त श्लोक में वात्सल्य और शृंगार दोनों में विरह-प्राप्ति की कामना की है। इसलिए, सूर ही नहीं, सभी अष्टछाप-कवियों के लिए विरह उनकी भाव-साधना का एक अहम रूप है। किन्तु, सूर ने काव्य ही नहीं, साम्प्रदायिक मान्यता की दृष्टि से भी विरह की इस भाव-साधना का खरा प्रतिनिधित्व किया है। सूर विरह के बादशाह हैं। नंददास और सूरदास को छोड़कर अष्टछाप के अन्य कवियों के काव्य प्रायः संयोगोन्मुखी ही हैं।

वियोग शृंगार चार तरह का बताया गया है-पूर्वराग, मान, प्रवास, और करुण। भगवान् के बिरह में करुण विप्रलंभ के लिए गुंजाइश ही कहाँ होती है ? शेष पूर्वराग, मान और प्रवास के वर्णन सूर-काव्य में बखूबी और बड़े भव्य विस्तार के साथ किए गये हैं। ब्रज में निवास करते हुए कृष्ण, राधा और गोपियों के बीच जिस सहचारी प्रेम का उदय हुआ वह अपने में इतना प्रगाढ़, पुष्ट और प्रभावशाली था कि उसमें पलार्ध का वियोग भी सर्वथा असह्य और बेहद दुःखदायी होता। कवि द्वारा चित्रित वेदना की इस सूक्ष्मता के उद्घाटन के लिए हमें किंचित् विस्तार से विमर्श करना होगा। रूपगोस्वामी ने अपने ग्रंथ **उज्ज्वलनीलमणि** में मधुर विप्रलंभ के चार प्रकार बताये हैं- पूर्वराग, मान, प्रेम-वैचित्य तथा प्रवास। इसमें प्रेमवैचित्य सम्भोग-काल की वह परम प्रगाढ़ अनुराग-दशा है, जिसमें कोई प्रेयसी अपने प्रिय के रूप-सौंदर्य में ऐसी निमग्न हो जाती है कि प्रिय उससे विलग है, इसका बोध ही समाप्त हो जाता है। ऐसी दशा में वह उसके अभाव की अनुभूति से विकल हो जाती है। नंददास ने अपनी रचना

1. सूर-संकलन, डॉ रमाशंकर तिवारी, पृ. 45
2. निरोधलक्षण, वल्लभाचार्य, श्लोक 1

विरहमंजरी में इस प्रेमवैचित्य का साक्षात् विरह नाम से उल्लेख किया है। कवि ने इस दशा को यों स्पष्ट किया है-जैसे, कोई कंठ में मणि (हार) धारणकर भी भूल से, वन-वन उसकी तलाश करता फिरे।[1] विरह की सूक्ष्मातिसूक्ष्म और तलस्पर्शी स्थितियों की अभिव्यंजना के लिए नंददास ने उसके चार और भेदों की परिकल्पना इस प्रकार की है—**प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर** तथा **देशान्तर।** जब प्रेमी प्रिय को समक्ष पाकर भी अपनी प्रचंड लालसा से अभिभूत हो उससे क्षणिक वियोग-भ्रम की अनुभूति करता है तो उसे **प्रत्यक्ष विरह,** जब प्रेमी की पलकें झपककर जितनी देर प्रिय को देखने नहीं देतीं उतनी देर के वियोग को **पलकान्तर विरह,** जब तक कृष्ण गोचारण-हेतु वन में होते तब तक उनसे न मिल पाने को **वनान्तर विरह** और प्रिय के परदेश-प्रयाणकर जाने पर प्रेमी को जिस वियोग व्यथा का सामना करना पड़ता है, उसे **देशांतर विरह** कहते हैं। कहना न होगा कि अष्टछाप के प्रायः सभी कवियों के काव्य में विरह के इन रूपों के चित्रण न्यूनाधिक मात्रा में हुए अवश्य हैं। सूर-काव्य इस दृष्टि से भी सर्वाधिक समृद्ध और सर्वोपरि रमणीय है। प्रस्तुत किए जा रहे हैं उनके पलकान्तर और प्रत्यक्ष विरह के दो ऐसे चित्र, जिनमें उन स्थितियों की अत्यंत मृदु-मधुर और सहज परिकल्पना की गयी है। **पलकान्तर वियोग** यथा :

**द्वै लोचन साबित नहिं तेऊ।**
**बिनु देखैं कल परति नहीं छिनु, एते पर कीन्ही यह टेऊ।।**
**बार-बार छबि देख्यौइ चाहत, साथी निमिष मिले हैं येऊ।**
**ते तौ ओट करत छिनहीं छिनु, देखत ही भरि आवत द्वेऊ।।**
**कैसैं मैं उनकौं पहिचानैं, नैन बिना लखियै क्यों भेऊ।।**
**ये तौ निमिष परत भरि आवत, निठुर बिधाता दीने जेऊ।**
**कहा भई जौ मिली स्याम सौं, तू जानै, जानै सब कोऊ।**
**'सूर' स्याम कौ नाम स्रवन सुनि, दरसन नीके देत न वेऊ।।**

कवि ने इस पद में प्रिय-रूप-रस के ऐसी उत्कट उत्कंठा से आकुल-व्याकुल प्रेमी के मधुव्रती लोचनों के सूक्ष्म, सरस और मार्मिक, अंतरंग पक्ष का उद्‌घाटन किया है, जो उस (प्रिय) के दर्शन पाँकर भी तृप्त होना जानते ही नहीं। अपनी इसी विलक्षण लोचन-लालसा का हाल कोई गोपी अपनी सखी से बताती हुई कहती है कि मात्र दो ही लोचन तो मिले हैं प्रिय रूपावलोकन के लिए, वे भी पूरी तरह (सम्पूर्णतः) अपना काम न कर पाने से अखंड (साबूत) नहीं कहे जा सकते। ऐसा होने पर भी उनकी ऐसी आदत (टेव) कि कृष्ण को क्षण मात्र के लिए भी देखे बिना कल नहीं पड़ती। वे एक बार ही नहीं, बार-बार उनकी छवि को देखना चाहते हैं। (लेकिन, विडंबना यह कि) इन (नेत्रों) के साथी ऐसे निमिष हैं, जो क्षण-क्षण में कृष्ण-रूप को छिपा (ओट) देते हैं और ये जब उन्हें देखने का सुअवसर पाते भी हैं तो देखते ही (आनंद-विह्वल

1. ज्यों मनि कंठ बाँधि के कोई, बिसरे बन-बन ढूँढ़त सोई। विरहमंजरी

हो हर्षाश्रु से) भर उठते हैं। इस तरह, नेत्रों की सही गतिविधि की अभाव-दशा में मैं उनके (पल-पल में परिवर्तित होने के) रहस्यभरे सौंदर्य की पहचान कैसे कर पाऊँ ? समझ में नहीं आता। निठुर विधाता ने ऐसे पनीले नेत्र दिए हैं जो पलक मारते ही भर आते हैं। ऐसी कौन बड़ी बात हो गयी जो वे श्याम (के नेत्रों) से मिल गये। इसे तू ही नहीं, सभी जानते हैं। (खेद है कि) जिन श्याम का (कानों से बड़ा) नाम सुना था (कि बड़े स्नेही और उदार हैं) वे तो ठीक से (नीकै) अपना दर्शन भी नहीं देते हैं।

इस पद की विलक्षण, रमणीय, बारीक और सुकोमल भाव-व्यंजना को देखकर छाती गर्व से फूली नहीं समाती। अर्थ-मीमांसा के बिना इसकी स्फीत संवेदना का एहसास शायद उतने सघनरूप में नहीं हो पाता, इसलिए ऐसा किया गया।

सूर ने विरह के प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर और देशान्तर चारों प्रकारों के अत्यंत रमणीय और मार्मिक वर्णन किए हैं, जिनकी समता दुर्लभ है। द्रष्टव्य है प्रत्यक्ष विरह का अत्यंत संवेदनशील और प्राणवंत चित्र, जिसमें **'समुझि न परै प्रगट ही निरखत'** के माध्यम से **प्रत्यक्ष विरह** की साफ बात की गयी है। विषय-सीमा को देखते हुए मैं नीचे उद्धृत पद की अर्थमीमांसा तो नहीं कर पाऊँगा किन्तु, ऐसा करने पर भी उसे सामने रखने का लोभ-संवरण भी नहीं कर सकता :

**स्याम सौं काहे की पहिचानि।**
**निमिष निमिष वह रूप, न वह छबि, रति कीजै जिय जानि।।**
**इकटक रहति निरंतर निसि दिन, मन बुधि सौं चित सानि।**
**एकौ पल सोभा की सीवाँ, सकति न उर मैंह आनि।।**
**समुझि न परै प्रगटही निरखत, आनँद की निधि खानि।**
**सखि यह बिरह, सँजोग, कि समरस, सुख दुख, लाभ कि हानि।।**
**मिटति न घृत तैं होम-अग्नि-रुचि, सुर सु लोचनबानि।**
**इत लोभी उत रूप परम निधि, कोउ न रहत मिति मानि।।**

और तो नहीं, इस पद के **'सखि यह बिरह, सँजोग कि समरस**– जैसे एक खास उल्लेख की ओर सहृदय-सुधी जनों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिसमें कोई कृष्णप्रेमासक्ता गोपी अपनी सखी से कृष्ण को समक्ष पाकर भी विस्मय प्रकट करती हुई पूछती है कि मेरी यह दशा संयोग रस या वियोग रस अथवा सम रस किस में परिगणित की जायेगी? संयोग-वियोग की सम्मिश्र स्थिति की बात तो इसके पूर्व की जा चुकी है, किन्तु, विरह का यह **समरस** रूप कौन-सा है ? विषय-विवेचन की एक निश्चित परिसीमा को देखते हुए इस पर अधिक विमर्श तो नहीं कर सकता, किन्तु, इतना अवश्य कहूँगा कि सूर के परवर्ती काव्याचार्य भिखारीदास और लछिराम

विरहमंजरी में इस प्रेमवैचित्य का साक्षात् विरह नाम से उल्लेख किया है। कवि ने इस दशा को यों स्पष्ट किया है-जैसे, कोई कंठ में मणि (हार) धारणकर भी भूल से, वन-वन उसकी तलाश करता फिरे।[1] विरह की सूक्ष्मातिसूक्ष्म और तलस्पर्शी स्थितियों की अभिव्यंजना के लिए नंददास ने उसके चार और भेदों की परिकल्पना इस प्रकार की है–**प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर** तथा **देशान्तर।** जब प्रेमी प्रिय को समक्ष पाकर भी अपनी प्रचंड लालसा से अभिभूत हो उससे क्षणिक वियोग-भ्रम की अनुभूति करता है तो उसे **प्रत्यक्ष विरह,** जब प्रेमी की पलकें झपककर जितनी देर प्रिय को देखने नहीं देतीं उतनी देर के वियोग को **पलकान्तर विरह,** जब तक कृष्ण गोचारण-हेतु वन में होते तब तक उनसे न मिल पाने को **वनान्तर विरह** और प्रिय के परदेश-प्रयाणकर जाने पर प्रेमी को जिस वियोग व्यथा का सामना करना पड़ता है, उसे **देशांतर विरह** कहते हैं। कहना न होगा कि अष्टछाप के प्रायः सभी कवियों के काव्य में विरह के इन रूपों के चित्रण न्यूनाधिक मात्रा में हुए अवश्य हैं। सूर-काव्य इस दृष्टि से भी सर्वाधिक समृद्ध और सर्वोपरि रमणीय है। प्रस्तुत किए जा रहे हैं उनके पलकान्तर और प्रत्यक्ष विरह के दो ऐसे चित्र, जिनमें उन स्थितियों की अत्यंत मृदु-मधुर और सहज परिकल्पना की गयी है। **पलकान्तर वियोग** यथा :

**द्वै लोचन साबित नहिं तेऊ।**
**बिनु देखैं कल परति नहीं छिनु, एते पर कीन्ही यह टेऊ।।**
**बार-बार छबि देख्यौइ चाहत, साथी निमिष मिले हैं येऊ।**
**ते तौ ओट करत छिनहीं छिनु, देखत ही भरि आवत द्वेऊ।।**
**कैसैं मैं उनकौं पहिचानैं, नैन बिना लखियै क्यों भेऊ।।**
**ये तौ निमिष परत भरि आवत, निठुर बिधाता दीने जेऊ।**
**कहा भई जौ मिली स्याम सौं, तू जानै, जानै सब कोऊ।**
**'सूर' स्याम कौ नाम स्रवन सुनि, दरसन नीके देत न वेऊ।।**

कवि ने इस पद में प्रिय-रूप-रस के ऐसी उत्कट उत्कंठा से आकुल-व्याकुल प्रेमी के मधुव्रती लोचनों के सूक्ष्म, सरस और मार्मिक, अंतरंग पक्ष का उद्घाटन किया है, जो उस (प्रिय) के दर्शन पाँकर भी तृप्त होना जानते ही नहीं। अपनी इसी विलक्षण लोचन-लालसा का हाल कोई गोपी अपनी सखी से बताती हुई कहती है कि मात्र दो ही लोचन तो मिले हैं प्रिय रूपावलोकन के लिए, वे भी पूरी तरह (सम्पूर्णतः) अपना काम न कर पाने से अखंड (साबूत) नहीं कहे जा सकते। ऐसा होने पर भी उनकी ऐसी आदत (टेव) कि कृष्ण को क्षण मात्र के लिए भी देखे बिना कल नहीं पड़ती। वे एक बार ही नहीं, बार-बार उनकी छवि को देखना चाहते हैं। (लेकिन, विडंबना यह कि) इन (नेत्रों) के साथी ऐसे निमिष हैं, जो क्षण-क्षण में कृष्ण-रूप को छिपा (ओट) देते हैं और ये जब उन्हें देखने का सुअवसर पाते भी हैं तो देखते ही (आनंद-विह्वल

1. ज्यों मनि कंठ बाँधि के कोई, बिसरे बन-बन ढूँढ़त सोई। विरहमंजरी

हो हर्षाश्रु से) भर उठते हैं। इस तरह, नेत्रों की सही गतिविधि की अभाव-दशा में मैं उनके (पल-पल में परिवर्तित होने के) रहस्यभरे सौंदर्य की पहचान कैसे कर पाऊँ ? समझ में नहीं आता। निठुर विधाता ने ऐसे पनीले नेत्र दिए हैं जो पलक मारते ही भर आते हैं। ऐसी कौन बड़ी बात हो गयी जो वे श्याम (के नेत्रों) से मिल गये। इसे तू ही नहीं, सभी जानते हैं। (खेद है कि) जिन श्याम का (कानों से बड़ा) नाम सुना था (कि बड़े स्नेही और उदार हैं) वे तो ठीक से (नीकै) अपना दर्शन भी नहीं देते हैं।

इस पद की विलक्षण, रमणीय, बारीक और सुकोमल भाव-व्यंजना को देखकर छाती गर्व से फूली नहीं समाती। अर्थ-मीमांसा के बिना इसकी स्फीत संवेदना का एहसास शायद उतने सघनरूप में नहीं हो पाता, इसलिए ऐसा किया गया।

सूर ने विरह के प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर और देशान्तर चारों प्रकारों के अत्यंत रमणीय और मार्मिक वर्णन किए हैं, जिनकी समता दुर्लभ है। द्रष्टव्य है प्रत्यक्ष विरह का अत्यंत संवेदनशील और प्राणवंत चित्र, जिसमें **'समुझि न परै प्रगट ही निरखत'** के माध्यम से **प्रत्यक्ष विरह** की साफ बात की गयी है। विषय-सीमा को देखते हुए मैं नीचे उद्धृत पद की अर्थमीमांसा तो नहीं कर पाऊँगा किन्तु, ऐसा करने पर भी उसे सामने रखने का लोभ-संवरण भी नहीं कर सकता :

**स्याम सौं काहे की पहिचानि।**
**निमिष निमिष वह रूप, न वह छबि, रति कीजै जिय जानि।।**
**इकटक रहति निरंतर निसि दिन, मन बुधि सौं चित सानि।**
**एकौ पल सोभा की सीवाँ, सकति न उर मैंह आनि।।**
**समुझि न परै प्रगटही निरखत, आनँद की निधि खानि।**
**सखि यह बिरह, सँजोग, कि समरस, सुख दुख, लाभ कि हानि।।**
**मिटति न घृत तैं होम-अग्नि-रुचि, सुर सु लोचनबानि।**
**इत लोभी उत रूप परम निधि, कोउ न रहत मिति मानि।।**

और तो नहीं, इस पद के **'सखि यह बिरह, सँजोग कि समरस**– जैसे एक खास उल्लेख की ओर सहृदय-सुधी जनों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिसमें कोई कृष्णप्रेमासक्ता गोपी अपनी सखी से कृष्ण को समक्ष पाकर भी विस्मय प्रकट करती हुई पूछती है कि मेरी यह दशा संयोग रस या वियोग रस अथवा सम रस किस में परिगणित की जायेगी? संयोग-वियोग की सम्मिश्र स्थिति की बात तो इसके पूर्व की जा चुकी है, किन्तु, विरह का यह **समरस** रूप कौन-सा है ? विषय-विवेचन की एक निश्चित परिसीमा को देखते हुए इस पर अधिक विमर्श तो नहीं कर सकता, किन्तु, इतना अवश्य कहूँगा कि सूर के परवर्ती काव्याचार्य भिखारीदास और लछिराम

ने अपने लक्षण-ग्रंथों में **'समरस'** जैसे विरह-रस का बखूबी उल्लेख किया है। लछिराम की समरस की अवधारणा भिखारीदास की मान्यता पर आधारित है।[1] चूँकि ऊपर उद्धृत दोनों पदों में कृष्ण से अभीष्ट रूप में न मिल पाने की व्यथा का प्राधान्य है, इसलिए, इन्हें वियोगाश्रित संयोग का उदाहरण माना जायेगा। इनके अतिरिक्त कवि ने सूरसागर में राधा के अनेक मानों का भी वर्णन किया है, जिनमें प्रेम और काम पर्यायरूप में प्रयुक्त हुए हैं।

कवि के काव्य में विरह की दूसरी भूमिका वहाँ दिखाई देती है, जहाँ कृष्ण गतिमती रासलीला के मध्य से कुछ देर के लिए अदृश्य होकर राधा-सहित सारी गोपियों को अत्यंत विरह-विकल कर देते हैं। इस प्रकरण पर इससे पूर्व विमर्श किया जा चुका है।

जिसे हम **प्रवास** या **देशान्तर विरह** कहते हैं, कवि के काव्य की वह तीसरी और अन्तिम भूमिका है, जिसकी अन्तहीन शुरुआत तब होती है, जब कृष्ण क्रूर बनकर आए अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं और फिर कभी गोकुल की ओर मुँह नहीं करते। प्रवास-विप्रलंभ के चित्रण में सूर की काव्य-प्रतिभा ने ऐसे कमाल का काम किया है, जो विश्व के विरह-साहित्य में बेजोड़ स्थान रखता है। कृष्ण से बिछुड़कर राधा, गोपियाँ, नंद-यशोदा, सारे ब्रजवासी ही नहीं, ब्रज की उस मानवेतर प्रकृति का समग्र परिवेश और उसके सभी परिकर मानवी प्रकृति के साथ आठ-आठ आँसू बहाते हैं। कृष्ण के मथुरा-प्रस्थान करते ही सारी ब्रजबालाएँ मूर्च्छित हो जाती हैं– **मुरझि परीं ब्रजबाल।** उनके रात-दिन अश्रुपात में बीतने लगे- **निसिदिन बरसत नैन हमारे।** रात नागिन-सी काट खाने लगी-**पिया बिनु नागिनि कारी रात।** यमुना यम-यातना देने लगी-**जमुना जम-सी ह्वै रही।** संयोग में सुख देनेवाले मयूर, चातक, चंद्रमा, मधुवन, कुंज आदि सारे उपकरण अब दुःख देने लगे। सोते-जागते, उठते-बैठते कभी एक पल के लिए भी वह (संयोगकालीन) श्याम-मूर्ति (भाव-मुद्रा) हृदय से कतई हटती ही नहीं-**चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत रात, ह्रदय ते वह स्याम मूरति छिन न इत उत जाइ।** ग्रीष्म और वर्षा ऋतुएँ ब्रज में हमेशा बनी रहती हैं- **ब्रज तैं द्वै रितु पै गई।** गोपियों के विरह-ताप के रूप में ज्वलंत ग्रीष्म और बरसात के बादल तो उन (गोपियों) के नेत्रों में ऐसे उतर आये हैं, जो रात-दिन बरसात की झड़ी लगाये रहते हैं-**नैन घन घटत न एक घरी। निसिदिन बरसत नैन हमारे।** ध्यातव्य है कि बादल ही बरसात का काम करते हैं। नयन घन हैं तभी दिनोरात बरसते हैं। विशुद्ध सात्त्विक प्रेम की पहली पहचान अतृप्ति ही होती है। अनन्त और अगाध अभिलाषा का लहराता सागर ही होता है प्रेमी (आश्रय) का मानस। इसलिए, उसे मानस-सागर या मानसरोवर-जैसा नाम भी कवियों ने दिया है। गोपियाँ तो

1. अ- रससारांश, छं. 254 ब. जहँ संजोग बियोग नहिं, पति सुभवार सुदेस।
तहाँ कहत सिंगार सम, जे कबि सुमति सुबेस।। मुनीश्वरकल्पतरु, 7/59

परानुरक्ति की मूर्तिमान रूप हैं, इसलिए, उनमें अतृप्ति और अभिलाषा का एकांत अधिवास है। गोपियों की कभी न बुझनेवाली ऐसी प्रेम-प्यास की विलक्षण और बेजोड़ व्यंजना कवि के भ्रमरगीत में हुई है। कृष्ण के मिलन-काल की तरह-तरह की उनकी भाव-मुद्राएँ स्मृति में उभरकर पीड़ित करने लगती हैं :

**बारक वा मुख फेरि दिखाओ, दुहि पय पिवत पतूखी।**
**'सूर' सिकत हठि नाव चलाओ, ये सरिता है सूखी।।**

विरह-व्यथा की इतनी अतिशयता कि उसके समक्ष मृत्यु-पीड़ा भी कम जान पड़ती है। रोज़-रोज़ तिल-तिलकर मरने की अपेक्षा एक बार एक दिन में ही अपने को समाप्त करना अधिक अच्छा है :

**अब या तनहिं राखि कह कीजै।**
**सुनि री सखी स्याम सुंदर बिनु, बाँटि विषम विष पीजै।।**
**कै गिरियै गिरि चढ़ि सुनि सजनी, सीस संकरहि दीजै।**
**कै दहियै दारुन दावानल, जाइ जमुन धँसि लीजै।।**
**दुसह बियोग बिरह माधौ के, को दिन ही दिन छीजै।**

सूर के काव्य में विप्रलंभ श्रृंगार की सभी कामदशाओं के मार्मिक और रमणीय चित्र मिलते हैं। गोपियाँ समस्त भौतिक संबंधों और कामनाओं से ऊपर उठकर कृष्ण के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित हैं। उद्धव-उपदेश-प्रत्युत्तर में वे कहती हैं :

**ऊधौ मन न भए दस बीस।**
**एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग, को अवराधै ईस।।**
**इंद्री सिथिल भईं केसव बिनु, ज्यौं देही बिनु सीस।**
**आसा लागि रहति तन स्वासा, जीवहिं कोटि बरीस।।**

सूर के विप्रलंभ-भाव की व्यापकता अनूठी है। मानव एवं मानवेतर प्रकृति का कण-कण उसकी व्याप्ति का दम भरता है :

**ऊधौ इहि ब्रज बिरह बढ़यौ।**
**घर बाहर, सरिता, बन, उपबन देखहु द्रुमनि चढ़यौ।।**

इस अगाध विरह-सागर में सौ-सौ गोते खाती गोपियों ने कृष्ण के पास इतने संदेश भेजे कि मधुवन (मथुरा) के कुएँ भर (पट) गये-**सँदेसनि मधुबन कूप भरे।** लेकिन, निष्ठुर और निर्दयी कृष्ण ने एक का भी जवाब नहीं दिया-**अतिहि निठुर पतियाँ नहि पठई, काहू हाथ सँदेस।** अंततः उनकी इस मनोकामना की पूर्ति तब होती है जब उद्धव अपने अंतरंग सखा कृष्ण का संदेश और पाती (चिट्ठी) लाकर ब्रजबालाओं को सौंपते हैं :

**निरखति अंक स्याम सुंदर के, बारबार लावति छाती।**
**लोचन जल कागद मसि मिलि कै, ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।।**

दिनों बाद पाती पाने के हर्षावेग से उमड़ी ब्रजबालाओं की अश्रु-धारा और उस (पाती) की स्याही एकाकार होकर न केवल श्याममय ही हुई वरन् श्याम की पाती श्यामरूप धारणकर मिलनानंद प्रदान करने लगी। पाती आँसुओं का योग पाकर श्याम-रूप में परिणत हो गयी। देव ने काजल को श्याम का प्रतिरूप मानकर नेत्रों में बसाने की बात करते हुए लिखा है-**साँवरे लाल को सुंदर रूप नैननि में कजरा करि राख्यौं।**

इस प्रकार, कहा जा सकता है कि सूर का काव्य श्रृंगार और वात्सल्य रस का कल्पतरु है। उनसे सम्बद्ध चाहे जिस तरह के भावों की चाहना हम करें उसकी परिपूर्ति वह करता अवश्य है। मेरे इस कथन का प्रमाण है आचार्य शुक्ल का यह कथन-**वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उनका साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं**।[1] सूर प्रायः अपने वर्ण्यविषय से तादात्म्य स्थापितकर काव्य-प्रकाम्य हार्दिकता प्रदान् करते हैं।

सूर एक ऐसे शिरोमणि भक्त महाकवि हैं, दैन्य चेतना जिसकी मानदंड है। इसलिए, उसकी परिणति उनके वात्सल्य, सख्य और माधुर्य (श्रृंगार) भाव की रचनाओं में सर्वत्र देखी जाती है। अकसर लोग भूल ज़ाते हैं कि तुलसी ही नहीं, सूर की भी आत्मा का केन्द्रीय भाव सेव्य-सेवक-भाव की दैन्य भक्ति ही है, जिसका सफल संयोजन उनके काव्य में सर्वत्र देखने को मिलता है।

## अपर रस

रस-परिकल्पना की दृष्टि से यद्यपि वल्लभसंप्रदाय में वात्सल्य और माधुर्य (श्रृंगार) भाव की रस-साधना को शीर्षस्थ स्थान दिया गया है तथापि इनके अतिरिक्त दास्य और सख्य नामक दो और ऐसे रस हैं जिनकी भावना वल्लभ-सम्प्रदाय और उसके अनुगामी केवल सूर में ही नहीं, सभी कवियों में पायी जाती है। जैसा इसके पूर्व विचार किया जा चुका है, सूर-काव्य में इन चार-वात्सल्य, माधुर्य, सख्य और दास्यभक्ति-रसों की स्थिति समग्रतः साम्प्रदायिक भावना के अनुसार ही पायी जाती है। इनके अतिरिक्त, कवि के काव्य में पाये जाने वाले अन्य सभी रस उक्त चार रसों में से किसी न किसी के रति-रूप के अंग बनकर उन्हीं में समाहित हो जाते हैं।[2] यहाँ तक कि सूर के विनय के पदों में जो निर्वेद पाया जाता है, उस पर विमर्श करते हुए डॉ. प्रेमस्वरूप ने लिखा है कि **उसकी स्थिति धारा-वाहिनी रस-परिकल्पना में स्थायीभाव के रूप में नहीं, संचारी के रूप में ही आती है**।[3] तात्पर्य यह है कि

1. सूरदास, पृ. 187
2. हिन्दी वैष्णव-साहित्य में रस-परिकल्पना, डॉ. प्रेमस्वरूप, पृ. 271
3. वही, पृ. वही

विनय के पदों का निर्वेद भगवद्रति के अंगरूप में ही आया है, शान्तरसरूप में नहीं। इसलिए, अब तक सूर-काव्य में चित्रित इन चार रसों के अतिरिक्त जिन अन्य रसों की चर्चा स्वतन्त्र रूप में की जाती रही, उनकी स्थिति अब पहले जैसी अक्षुण नहीं रह गई है।

काव्य-संवेदना के निचोड़ की कुछ बातें और। सूर ने शृंगाररसमय लीलाओं वाले मधुर रस को **महारस**[1] माना है। कवि की समग्र काव्य-साधना भाव-विकासपरक है, चरित्र-विकासपरक नहीं। उसमें गोपी-विरह-भावना का प्राधान्य है। रमणीयता, रसात्मकता और सहजता की दृष्टि से उसका सख्य रस-चित्रण अनूठा है। गोपियों में ही उसकी विशुद्ध सख्य-भावना के दर्शन होते हैं। लेकिन, उनकी यह भावना सख्य भक्ति रस की नहीं, मधुर रस की अंग मानी जायेगी, क्योंकि उनके काममूलक सख्य का पर्यवसान मधुर रस में ही होता है। ब्रजवासी कृष्ण का गोपजनों के साथ गोचारण, खेल-कूद, माखन-चोरी आदि करने से शुद्ध सख्य रस की प्राप्ति होती है। कवि के काव्य पर उसकी साम्प्रदायिक-निष्ठा कहीं भी नाजायज़ असर नहीं डालती। सूर वात्सल्य रस के आलंबन और आश्रय दोनों पक्षों पर समान दृष्टि रखनेवाले कुशल शिल्पी हैं। कवि वात्सल्य-विषयक् अपनी अत्यन्त सूक्ष्म, गंभीर और दुर्लभ मार्मिक अनुभूतियों के कारण सर्वकालीन ही नहीं सर्वदेशीय विश्व-कवि ठहरते हैं। हिन्दी में वत्सल वियोग के वे अद्वितीय महाकवि हैं। उनके ऐसे पदों की रसान्विति पाठक को आत्म-विभोर कर देती है।

सूर काव्य में ऐसे अनेक पद मिलते हैं, जिनमें बालकृष्ण-लीलाओं का चित्रण आश्रय-पात्र-रहित रूप में किया गया है। ऐसे सभी पद उस बाल-लीला के अन्तर्गत माने जायेंगे जिन्हें भक्त बालचरित्र का ही लीलारस कहते हैं। परिमाण की दृष्टि से भी सूर का वत्सल काव्य एक समग्र साहित्य है।

सूर-काव्य का सर्वप्रधान रस मधुर है, जिसमें विप्रलंभ का स्थान सर्वोपरि है। कवि का काव्य वल्लभाचार्य द्वारा मान्य विरह-भावना का खरा प्रतिनिधित्व करता है। वल्लभ-सम्प्रदाय में यद्यपि स्वकीया-भाव को विहित माना गया है तथापि सूर और उस धारा के अन्य कवियों में परकीया-भाव के जो थोड़े चित्र मिलते हैं, वे सीधे भागवत से गृहीत हुए हैं। राधा और सभी गोपियाँ कृष्ण को पति-भाव से भजती हैं। इसलिए, वे सभी कृष्ण की जितनी प्रणयिनियाँ और प्रेमिकाएँ मानी जा सकती हैं उतनी राधा की सेविका तथा सहचरियाँ नहीं। साहचर्य प्रेम का जैसा विकास इस कवि ने दिखाया है वैसा हिन्दी में और किसी ने नहीं।

प्रवास-विरह-काल में राधा और गोपियाँ प्रिय की संभोगकालीन गतिविधियों को यादकर जिस तरह विरह-व्यथित होती हैं, रासलीला में जैसी उनकी भूमिका दिखाई

---

1. अ-तरुनी स्याम-रस मतवारि। **महारस** अंग-अंग पूरन, कहाँ घर, कहुँ बाट।
(ब) 'सूर' स्याम कौ रूप **महारस,** जाकैं बल काहू न डरै। पद-2254

देती है तथा अन्य अनेक ऐसे प्रकरणों को देखते हुए यह बड़े मज़े में कहा जा सकता है कि कृष्ण और उन (गोपियों) में परस्पर काममूलक दाम्पत्य संबंध था। जिसे हम (लौकिक) शृंगार कहते हैं, उसमें और अलौकिक शृंगार, जिसे यहाँ मधुर रस कहा गया है, में मात्र अलौकिक आलंबन (दिव्य पुरुष-कृष्ण) को लेकर अन्तर किया जाता है, किन्तु, मूल स्थायी भाव रति का स्वरूप दोनों में अक्षत और अक्षुण्णभाव से वर्तमान होता है।

वयः क्रम के लिहाज़ से ब्रजवासी कृष्ण के चार रूपों की मान्यता वल्लभ-संप्रदाय-समर्थित थी-बाल, कुमार, पोगंड और किशोर। लेकिन, इनमें भी दो अवस्थाओं की महिमा सर्वोपरि थी-बाल और किशोर। इसी क्रम से उनके दो उपजीव्य-वात्सल्य और माधुर्य-रसों की महान् सृष्टि हुई। साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार कृष्ण ब्रज में 11 वर्ष 1 मास और 22 दिनों तक रहे। इसलिए, यह मानना चाहिए कि वल्लभमतानुयायी सारे हिन्दी कवियों का काव्य कृष्ण की इन्हीं अवस्थाओं में की गयी लीला-रस का अनुगायन है।

# प्रकृति-परिवेश

प्रकृति समग्र सृष्टि की वह एकमात्र आधारभूत तत्त्व है, यह दृश्यमान् चराचर जगत् जिसका परिणाम है। यद्यपि अपने सत् स्वरूप में मानव भी उस प्रकृति का रूपान्तर ही है तथापि वह अपने को उससे अलग-थलग देखता है। परन्तु, इस अलगाव को मानते हुए भी हम मानव और प्रकृति को सर्वथा असंपृक्त नहीं मान सकते। इस प्रकार, इसे हम यों भी कह सकते हैं कि स्थूलरूप में वह समग्र मानवेतर परिवेश, जिसमें मानव रहता है, जीता, भोगता और संस्कार ग्रहण करता है, उसे "प्रकृति" कह सकते हैं। वह इतनी दृग्गोचर होती है कि उसे हम देख सकते, सुन सकते, छू सकते तथा जिसकी गन्ध पाने के साथ ही उसका आस्वादन भी कर सकते हैं। चिर सहचरी के रूप में जहाँ वह एक ओर मनुष्य की बाह्य अपेक्षाओं की सम्पूर्ति करती है वहाँ दूसरी ओर अपने रूपाकर्षण से मानव-भावानुभूतियों को विलक्षणरूप से प्रभावित और चमत्कृत भी करती आई है।

हमारी सौन्दर्य-चेतना प्रकृति से निष्पन्न होती है। इसलिए, इतिहास के आदिकाल से मानव का प्रकृति से एक संवेदनशील सत्ता के रूप में सम्बन्ध स्थापित हुआ। भारतीय कवि, इसी नाते, मानव और प्रकृति के बाहरी के साथ इन अंतरंग सघन सम्बन्धों को भी हमेशा याद रखता है। यह बहुरूपिणी और बहुवर्णी प्रकृति हमारे सामने न जाने किन-किन रूपों में व्यक्त होती है। कहीं कभी वह गतिमय, नादमय, ध्वनिमय, परिवर्तनमय आदि गुणों से संयुक्त होती है और कहीं उसका रूप-स्वरूप सौम्य-सुकुमार, शान्त-सरस, भीम-भयंकर तथा उग्र और उदग्र होता है, जिन्हें देखकर हम न केवल विस्मय-विमुग्ध ही होते हैं, प्रत्युत एक अव्यक्त जिज्ञासा की आकुल मनोदशा से जुड़ते भी हैं। दोनों के रिश्तों की इस भीतरी स्थिति का दिग्दर्शन कोई कवि अपने बिम्बविधान द्वारा कराता है। विविध ललित कलाओं में प्रकृति की व्याकृत सत्ता की जो अभिव्यक्ति हुई है, उसका सीधा सम्बन्ध हमारे रागानुराग से है। दोनों के ऐसे प्रगाढ़ सम्बन्धों को देखते हुए बड़ी सुगमता से यह कहा जा सकता है कि साहित्य के लिए मानव मात्र ही नहीं, प्रकृति भी समान रूप से अपेक्षणीय है।

समूची भारतीय काव्य-परम्परा में प्रकृति मानव-जीवन के समानान्तर रूप में ही गृहीत हुई है। भारत के कवियों ने प्रकृति के नाना रूपों का चित्रण प्रायः उद्दीपनरूप में ही किया है। ऐसा करने से शास्त्रीयता की परिपूर्ति और काव्य-रूढ़ियों का परिपालन भले ही हुआ हो, किन्तु, उससे प्रकृति के संश्लिष्ट रूप के प्रति उनकी गहरी उदासीनता और उपेक्षा का भाव भी प्रकट हुआ है। वन, उपवन, गिरि, निर्झर, सर, सरित, वर्षा, शरद, चन्द, चाँदनी, पादप, पुष्प, लता, गुल्म आदि सभी ऐसे प्रकृति के नाना रूपों पर कवियों ने अपने मनोभावों का मुलम्मा चढ़ाया है। संस्कृत में प्रकृति का वस्तून्मुखी चित्रांकन कुछ ही काव्यों में हुआ है, जिनमें प्रमुख हैं—रामायण, महाभारत,

कालिदास और भवभूति के काव्य-ग्रन्थ। कुछ थोड़े से गद्य-ग्रन्थों में भी प्रकृति के अभीष्ट रूप-चित्र मिलते हैं।

सूर ने ही नहीं, हिन्दी के प्रायः अधिकांश छोटे-बड़े कवियों ने प्रकृति को अपने मनोभावों के आलोक में ही देखने की कोशिश की है। कुछ अपवाद तो सर्वत्र होते हैं। हाँ, छायावादी काव्य-सरणि में उसके निखरे रूप की झाँकी अवश्य मिलती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि समग्र हिन्दी साहित्य में प्रकृति को जिस रूप में अपनाया गया है, उसमें न तो कोई खास मौलिकता ही मिलती है और न कोई नयी उद्भावना ही। आदिकालीन हिन्दी-काव्य में भी प्रकृति को उपयुक्त स्थान नहीं मिला। भक्तिकाल में जायसी, सूर, तुलसी आदि ने प्रकृति को किञ्चित् व्यापक रूप में चित्रित किया है। ऐसा होते हुए भी वह "हमारे कवियों के लिए प्रेरणा की स्रोत ही नहीं, सौन्दर्य का अक्षय भण्डार, कल्पना का अद्भुत लोक, अनुभूति का अगाध सागर और विचारों की अटूट शृंखला भी रही है[1]।"

कृष्ण-काव्य का समग्र रेखांकन जिस वस्तु-बल से किया जाता आया है, ब्रज-प्रकृति के साथ उसका ऐसा अनवच्छिन्न, अद्वैत और सीधा सम्बन्ध है कि एक के साथ दूसरे का वर्णन अनुल्लंघनीय हो जाता है। इस तरह, कहा जा सकता है कि ब्रज-प्रकृति को नज़रअन्दाज़ कर कोई कवि राधा-कृष्ण-लीलाओं की चर्चा तक नहीं कर सकता। एक तरफ कृष्ण-लीलाओं का समाँ बँधता है तो दूसरी तरफ प्रकृति की लीलाओं का। इसलिए, एक अपेक्षित रूप में भी सूरदास को अपने आराध्य कृष्ण की लीलाओं के साथ यमुना, कदम्ब-कुञ्ज, ऋतु-परिवर्तन, दावानल आदि ब्रज-प्रकृति के नाना रंग-रूपों का चित्रण करना पड़ा है।

कृष्ण-काव्य से ब्रज-परिवेश का इतने अद्वयभाव से जुड़ाव के अनेक महत्त्वपूर्ण कारण हैं। पहला तो यही कि अपनी अनन्त और अपार प्राकृतिक सौन्दर्य-सुषमा से अभिमण्डित ब्रज-प्रकृति आराध्य की ही लीला-भूमि नहीं, आराधक स्वयं सूर की भक्ति-भावना-भूमि भी थी, जिससे उसके प्रति अनन्य अनुराग भाव सर्वथा सहज है। इसके अतिरिक्त, अपने नैसर्गिक सौन्दर्य से ब्रज-भूमि को भूषित करनेवाला वह गोवर्धन गिरि भी वहीं पर अवस्थित था, जिस पर सूर के दीक्षागुरु वल्लभाचार्य ने भगवद्-विग्रह श्रीनाथ जी की प्रतिष्ठा की थी। यही नहीं, पूरे ब्रज-मण्डल का सुमेरु वह वृन्दावन धाम भी वहीं पर स्थित है, जो लौकिक और अलौकिक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्व का है। कहना न होगा कि सूर-काव्य का प्रणयन ब्रज के ऐसे ही पर्यावरण में हुआ, जिसके बारे में डॉ. रामरतन भटनागर की यह उक्ति अत्यन्त सटीक बैठती है—**"कृष्ण का विकास जैसे ब्रज की प्रकृति में होता है, उसी प्रकार सूर साहित्य का विकास भी ब्रज-प्रकृति की छाया में ही होता है। ब्रज की प्रकृति ने उन्हें केवल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के लिए ही सामग्री नहीं दी है, वह उनके काव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित हुई है"[2]।**

1. सूर-साहित्य की भूमिका, पृ.211, द्वितीय संस्करण
2. वही, पृ. 211

सूर ब्रज-भूमि पर सर्वतोभावेन निछावर भक्त महाकवि हैं। उनकी दृष्टि में ब्रज-सुख के समक्ष अन्य सभी सुख व्यर्थ-बेमानी हैं। सूर के हृदय को जैसी तृप्ति वंशीवट, यमुना, वृन्दावन, राधा, गोपियों, रास-रस, मान, विरहानन्द आदि के सुखद स्मरण से मिलती है वैसी अन्य किसी से नहीं :

**कहाँ सुख ब्रज कौ सौ संसार।**
**कहाँ सुखद बंशीवट जमुना, यह मन सदा विचार।।**
**कहाँ बन धाम कहाँ राधा संग, कहाँ संग ब्रज बाम।**
**कहाँ रस रास बीच अंतर सुख, कहाँ नारि तन ताम।।**
**कहाँ लता तरु तरु प्रति बूझनि, कुंज, कुंज नव धाम।**
**कहाँ बिरह-सुख बिन गोपिन संग, सूर स्याम मन काम।।**

वृन्दावन-रेणु की महिमा के सामने कामधेनु और कल्पवृक्ष भी मूल्यहीन जान पड़ते हैं। इसलिए कवि सूर का मन जूठन खाकर भी वहीं बना रहना चाहता है :

**धनि यह बृन्दावन की रेनु।**
**इहाँ रहहु जहँ जूठनि पावहु, ब्रजबासिन के ऐनु।**
**सूरदास ह्याँ की सरवरि नहिं, कल्पबृक्ष सुरधेनु।।**

वृन्दावन कृष्ण का लीलाधाम ही नहीं, वल्लभ-साम्प्रदायी मान्यता के अनुसार उसका स्वरूप शाश्वत और गोलोक का प्रतिरूप भी है। कवि ने ब्रज-प्रदेश की परिवर्तनशीला प्रकृति का अंकन करते हुए उसके उक्त शाश्वत रूप का भी वर्णन किया है :

**नित्य धाम बृन्दावन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रजबाम।।**
**नित्य रास, जल नित्य बिहार। नित्य मान खंडिताऽभिसार।।**

कृष्ण की प्रायः सभी लीलाएँ ब्रज-प्रकृति के साथ ऐसी घुलीमिली हैं कि उससे उनका प्रकृतिपरक नाम **वृन्दावनविहारी, "विपिनविहारी"** आदि हो गया। इस प्रकार, कवि, कृष्ण और प्रकृति तीनों मिलकर ऐसे एक हो गये हैं कि इनमें से एक की सुध आने पर दूसरे दोनों अपने आप कौंध उठते हैं।

काव्य में प्रकृति का चित्रण प्रस्तुत और अप्रस्तुत नाम के दो रूपों में किया जाता है। प्रस्तुतरूप में प्रकृति का अंकन स्वच्छन्द अथवा आलम्बनरूप में किया जाता है, जबकि अप्रस्तुत रूप में वह सहायक का काम करती है। रस-सन्दर्भ की अप्रस्तुत प्रकृति को उद्दीपन के अन्तर्गत माना जाता है और अलंकारों के साथ वह उपमानरूप में सामने आती है। सूर-साहित्य में प्रकृति के प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों रूपों के जितने प्रकार-भेद हो सकते हैं, प्रायः उन सभी का समाहार उसमें हुआ है। सूर के अधिकांश प्रकृति-प्रयोग उद्दीपन-शैली में ही किए गये हैं। लेकिन, कृष्णकाव्य के मनीषी डॉ. जगदीश गुप्त की दृष्टि से सूर-काव्य के उद्दीपन-शैली के प्रकृति-चित्रण में भावों की एक ऐसी तीव्रता पायी जाती है जो सूर की बपौती है। सूर ने उद्दीपनरूप में भी

प्रकृति में अद्भुत प्राण–प्रतिष्ठा की है किन्तु, इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन को केवल उद्दीपन विभाव तक सीमित नहीं रखा जा सकता। प्रकृति के प्रति व्यक्त होनेवाली रागात्मिका वृत्ति तीव्रता की सीमा पर पहुँचकर उपालम्भ से युक्त भावात्मक अनुकथनों के रूप में प्रकट होने लगती है। **"मधुबन तुम कत रहत हरे"** तथा **"माई मेरे मोरउ बैर परे"** से आरम्भ होनेवाले पदों में इसी प्रकार की तीव्र अनुभूति मिलती है। स्थल-संकोच से यहाँ सूर द्वारा प्रयुक्त प्रकृति-चित्रण की सभी पद्धतियों का दिग्दर्शन कराना तो सम्भव नहीं, किन्तु, उनमें से कतिपय ऐसी शैलियों की चर्चा अवश्य की जायेगी जिनसे कवि के इस विषय की पहचान बनती है।

मानवीय सुख-दुःख के प्रति पूरी सहानुभूति रखना सूर के प्रकृति-चित्रण की एक बड़ी विशेषता है। सुख-दुःख के प्रति वह पूरी सहानुभूति रखती है। संयोग की स्थिति में जहाँ प्रकृति के लता-वृक्ष, पशु-पक्षी आदि सभी उपकरण उल्लास और उत्साह का संवर्द्धन करते हैं वहाँ वियोग-काल की मलिन मनोदशाओं के प्रति समशील रूप में पेश आते हैं। गोपियों को उनसे अपनापन मिलता है। यही नहीं, कवि के पात्रों के चरित्रांकन में भी प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों का समाहार अपने आप हो गया है। प्राकृतिक परिवेश के सर्जन में सूर को कमाल हासिल है। उन्होंने अपनी चित्रण-क्षमता से प्रभात, वन, द्रुम, लता, पुष्प, यमुना, चन्द्रमा, मेघ, वसन्त, वर्षा, शरद आदि को अनोखा सौन्दर्य प्रदान किया है।

प्रकृति के निरपेक्ष या स्वतन्त्र चित्रण को हम आलम्बन-शैली का प्रकृति-चित्रण कहते हैं। ऐसी स्थिति में कवि साध्यरूप में प्रकृति का ऐसा सूक्ष्म तथा सजीव चित्रांकन करता है, जिससे सहृदय आनन्द की अनुभूति कर नाच उठता है। ऐसे चित्र, कम ही सही, सूर-काव्य में सरलता से मिल जाते हैं। कवि के ऐसे चित्र इतने मनोज्ञ रूप में अंकित हुए हैं कि उनसे प्राचीन संस्कृत महाकवियों के ऐसे दृश्यों की याद ताजा हो आती है। "सूरसागर" में, इस शैली के प्रमुखतः दो प्रकार के प्रकृति-रूप मिलते हैं—सुकुमाररूप और उग्ररूप। **"जागिए ब्रजराज कुँवर, कमल कुसुम फूले"** वाले कवि के प्रसिद्ध पद में प्रभातकालीन सुषमा का अत्यन्त सहज और संश्लिष्ट रेखांकन किया गया है। इसी के साथ प्रभात के एक ऐसे अन्य दृश्यांकन का अवलोकन करें, जिसमें उसके स्वतन्त्र स्वरूप को बड़े प्राणवान् ढंग से प्रस्तुत किया गया है :

**चिरई चुहचुहानी, चन्द की ज्योति परानी;**
**रजनी बिहानी, प्राची पियरी प्रबान की।**
**तारिका दुरानी, तम घट्यौ, तमचुर बोले;**
**स्रवन भनक परी ललिता के तान की।।**
**भृंग मिले भारजा, बिछुरी जोरी काक मिले;**
**उतरी पनच अब काम के कमान की।**
**अथवत आए गृह, बहुरि उवन भानु;**
**उठौ प्राननाथ महा जानमनि जान की।।**

अलंकारों का आश्रय लिए बिना कवि ने इसमें प्रातःकाल का बिंब-ग्रहण बड़े कौशल से कराया है।

सूर ने प्रकृति के परुष या उग्र रूप का भी वर्णन **"दावानल-पान-लीला"** और **"गोवर्धन-धारण-लीला"** के सन्दर्भ में किया है। प्रस्तुत है दावानल-विषयक यह सजीव चित्र, जिसमें ध्वन्यर्थ-व्यंजना का प्रयोग बड़ी हार्दिकता के साथ किया गया है:

**भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।**
**घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ।।**
**बरत बनबाँस, थरहरत कुसकाँस जरि, उड़त है भाँस अति प्रबल धायौ।**
**झपटि झपटत लपटे, फूल-फल चट चटकि, फटत लटलटकि द्रुम-द्रुम नबायौ।।**
**अति अगिनि-झार भंभार-धुँधार करि, उचटि अंगार झंझार छायौ।**
**बरत बनपात, भहरात झहरात अररात तरु महा, धरती गिरायौ।।**

कहना न होगा कि इस पद में आद्योपांत प्रयुक्त कतिपय शब्दों की ध्वनियों से ही प्रसंग और अर्थ का उद्‌बोधन कराकर दावानल के रौद्ररूप का चित्र साकार कर दिया गया है। साहित्य-समीक्षकों ने इसे "ध्वन्यर्थव्यंजना" (Onomatopoeia) नामक पाश्चात्य परम्परा का एक अलंकार करार दिया है। लेकिन, सूर आदि कवियों के ऐसे प्रयोगों को देखते हुए ऐसा मानना असंगत जान पड़ता है कि अपनी काव्य-परम्परा का सम्यक् अनुशीलन किये बिना मानवीकरण (Personification) और ध्वन्यर्थव्यंजना को पाश्चात्य अलंकार मानना हमारी कमअक़्ली का सबूत पेश करता है। मानवीकरण के तो ढेर सारे प्रयोग वैदिक संस्कृत से लेकर मध्ययुगीन ब्रजभाषा काव्य तक में खूब देखने में आते हैं, किन्तु, इसकी अपेक्षा ध्वन्यर्थव्यंजना के उदाहरण प्रायः उतने नहीं मिलते। सूरकाव्य में मानवीकरण का तो अनेकत्र व्यवहार हुआ है, जिनमें **"देखियति कालिन्दी अति कारी"** वाला सम्पूर्ण पद इसका सर्वश्रेष्ठ नमूना है। अपने इस कथन के प्रमाण में प्रस्तुत है रीति-शैली के भक्तिकालीन कविवर सेनापति का यह छन्द, जिसमें ध्वन्यर्थव्यंजना का व्यापक और मनोहर व्यवहार किया गया है :

**बर्बरात बैहर प्रचंड खंड मंडल पै,**
**दर्बरात दामिनि की दुति री अर्फरात।**
**घर्घरात घनन के मेघ आये झर्झरात,**
**पर्परात पानिप के बुंदन ते जर्फरात।**
**भर्भरात भामिनि भवन मांझ सेनापति,**
**हर्बरात हाय हीय पीय पीय बर्बरात।**
**चुर्भुरात खिन्न खिन्न धीर न धरत बीर,**
**नीरहीन मीन ऐसी सेज पर फर्फरात।।**[1]

1. पावसकवित्तरत्नाकर, पृ. 40

कहने का आशय यही कि ध्वन्यर्थव्यंजना हमारी काव्य-शिल्प-परम्परा की एक अभिन्न अंग रही है, इसलिए, उसे अभारतीय मानना नाज़ायज़ है। तुलसी ने भी **"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि"** तथा **"डिगति उर्बि अति गुर्बि सर्ब पब्बै समुद्रसर"** आदि पंक्तियों से प्रारम्भ होनेवाले छन्दों को लिखकर इसी काव्य-शैली का सम्पोषण किया है। यह बात और है कि इसे आजकल जितनी प्रधानता दी जाती है उतनी पहले नहीं दी जाती थी। यही नहीं, सूर ने गोवर्धन-धारण के समय ब्रज पर प्रलय-काल का-सा ग़जब ढानेवाले मेघों के आतंक का चित्रण भी इसी व्यंजना-शैली में किया है :

**घटा घनघोर घहरात, अररात, दररात, थररात, ब्रजलोग डरपैं।**
**तड़ित आघात तररात, उतपात, सुनि, नारि-नर, सकुचि, तन-प्रान अरपैं।।**

इसके पहले कहा जा चुका है कि सूर ने प्रकृति का सबसे अधिक अवेक्षण मानवीय मनोभावों के आलोक में ही किया है, जिसे हम उद्दीपन-प्रणाली नाम से जानते हैं। राधा-कृष्ण के रागानुराग का कमल ब्रज-प्रदेश की श्रीसम्पन्न और परमप्रसन्न प्रकृति के मानसर में ही पुष्पित-पल्लवित होता है। वहाँ की प्रकृति उन दोनों के प्रेम-भाव के अनुकूल परिवेश प्रस्तुत करती है। वृन्दावन के श्रीकुंज की प्रस्फुटित ज्योत्स्ना रास-रचाने का किस तरह आमन्त्रण देती है ?, द्रष्टव्य है यह परिदृश्य :

**सरद-चाँदनी रजनी सोहै, बृन्दावन श्रीकुंज।**
**प्रफुलित सुमन बिबिध रँग जहँ-तहँ, कूजत कोकिल पुंज।।**
**जमुना पुलिन स्याम घन सुन्दर, अद्‌भुत रास उपायौ।**

यही नहीं, नवल कुँवरि राधिका और नवल कुँवर कृष्ण की प्रेमासक्ति और रस-विलास को वृन्दावन की तरह-तरह की नव्यता किस प्रकार उकसाती और उद्दीप्त करती है :

**नयौ नेह, नयौ गेह, नयौ रस, नवल कुँवरि वृषभानु-किशोरी।**
**नयौ पीताम्बर, नई चूनरी, नई-नई बूँदनि भीजति गोरी।।**
**नयौ कुंज, अति पुंज नये" द्रुम, सुभग जमुन जल पवन हिलोरी।**
**सूरदास प्रभु नव रस बिलसत, नवल राधिका जोबन भोरी।।**

उद्दीपन-प्रणाली की प्रकृति संयोग-वियोग दोनों ही दशाओं में हमारे मनोभावों को उद्‌बुद्ध करने का काम करती है। संयोगकाल के सुखद उद्दीपक उपकरण वियोगकाल में दुःखद प्रतीत होने लगते हैं— **"जोइ जोइ सुखद दुखद अब तेइ तेइ कबि मंडन बिछुरत जदुपति"**। सूर ने अपने विप्रलम्भ-भावों को सशक्त और रमणीय बनाने के लिए प्रकृति का अधिकाधिक उपयोग किया है। इस दृष्टि से हम उनके भ्रमरगीत को ऐसे वर्णनों की मंजुल मणि-मंजूषा मान सकते हैं। वही वर्षा जो संयोग-सुख का विधान कर गोपियों को रस-स्नात कराती रही, अब विछोह-काल में आठ-आठ आँसू रुला रही है। वर्षा के ये मेघ क्या हैं ? मानों मदन के मद-मत्त मतंगज हों,

जिन्होंने सारे सशक्त बन्धनों को तोड़कर कृष्ण-वियुक्ता गोप-बालाओं पर आक्रमण कर दिया है :

**देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे।**
**मानौ मत्त मदन के हथियनि, बल करि बन्धन तोरे।।**
**स्याम सुभग तनु चुवत गंडमद, वर तैं थोरे-थोरे।**
**रुकत न पवन महावतहू पै, मुरत न अंकुस मोरे।।**
**मनौ निकसि बग पंक्तिदंत, उर अवधि सरोवर फोरे।**
**बिनु बेला बल निकसि नयन जल, कुच कंचुकि बँद बोरे।।**
**तब तिहिं समय आनि ऐरावति, ब्रजपति सौं कर जोरे।**
**अब सुनि सूर कान्ह केहरि बिनु, गरत गात जैसें ओरे।।**

कहना न होगा कि कवि ने इस पद में वर्षाकालीन इधर-उधर उमड़घुमड़ कर दौड़ते हुए बादलों का चित्रण अत्यन्त निरंकुश भाव के मद-मत्त मतंगजों के सांगरूपक अलंकार के सहारे बड़ी ही सहज, सरस और सजीव पद्धति पर किया है।

कहाँ प्रिय के साथ की वे रातें, जिनमें रास-रस की वर्षा होती थी और कहाँ प्रिय-विहीन आजकल की रातें नागिन-सी डसती रहती हैं:

**पिया बिनु नागिनि कारी रात।**
**जौ कहु जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात।।**
**जंत्र न फुरत, मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात।**
**सूरस्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि-मुरि लहरै खात।।**

अर्थात् प्राणवल्लभ कृष्ण के बिना काली रात नागिन-सी डसती है। नागिन जब डसकर उलटती है तो उसके शरीर के नीचे का जमीन से सटकर चलनेवाला उजला भाग ऊपर आ जाता है वैसे रात्रि में जब चाँदनी छिटकती है तो वही नागिन का डसकर उलटना है (कहा जाता है कि असली नागिन डसकर उलटती अवश्य है)। तब ऐसी दशा में इस दंश के प्रभाव से मुक्ति पाने के लिए यंत्र-मंत्र का सहारा लेकर जो उपचार किये जाते हैं, वे सभी निष्फल और व्यर्थ सिद्ध होते हैं। ऐसी अवस्था में श्याम (गारुड़ी, विषवैद्य) के बिना बेचारी विकल विरहिणियाँ नागिन-दंश की लहरों की पीड़ा को बारंबार लौट-पौट (मुरि-मुरि=मुड़-मुड़कर) कर भुगतने के लिए विवश हैं। वियोग-व्यथा के ऐसे दिनों को भरती विरहिणियों को इस बात का बड़ा दुःख है उनकी प्रीति (प्रेम) के दिन भी ऐसे ही बीतते (सिराते) जा रहे हैं।

इस प्रकार, इस पद में कवि ने रात्रि को नागिन-दंश के समान प्राणापहारी मानकर विरहानुभूति का अत्यंत मार्मिक और मौलिक चित्रांकन किया है। यह वर्णन भी सांगरूपक अलंकार के माध्यम से प्रकृति की उद्दीपन प्रणाली के ही अन्तर्गत किया गया है। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि रास आदि अनेक कृष्ण-लीलाओं का सीधा सम्बन्ध उन संयोगकालीन अनन्त आनन्ददायिनी रातों से इतना अधिक था कि विछोह

के समय उनके आने पर विरहिणियों की विरह-वेदना चरम पर पहुँची नज़र आती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि संयुक्त काल के बहु आभुक्त उपकरण अन्यथा (वियोग) स्थिति में अनन्य दुःखदायक प्रतीत होते हैं।

इस विषय में निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि सूर ने अपने काव्य में प्रकृति का जैसा व्यापक और वैविध्यपूर्ण चित्रांकनं किया है वैसा पूरे कृष्ण-काव्य में देखने में नहीं आता। विरह मनुष्य की ऐसी विद्रावक मनोदशा है, जिसमें वह स्व की संकीर्ण परिधि से ऊपर उठकर चराचर सृष्टि से तादात्म्य स्थापित करता है। गोपियों को यमुना अपनी ही भाँति सप्राण और विरह-विदग्ध दिखाई देती है। ऐसे प्रकृति-चित्र को मानवीकरण पद्धति का रेखांकन कहा जाता है। प्रस्तुत है यमुना का गोपियों की ही तरह का विरह-ज्वर-ज्वलित अत्यन्त मार्मिक चित्र :

**देखियति कालिंदी अति कारी।**
**अहौ पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई बिरह जुर जारी।।**
**गिरिप्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि, तरँग तरफ तन भारी।**
**तट बारू उपचार चूर, जलपूर प्रस्वेद पनारी।।**
**बिगलित कच कुस काँस कूल पर, पंक जु काजल सारी।**
**भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित, दिसि दिसि दीन दुखारी।।**
**निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।**
**सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।।**

सूर ने अप्रस्तुत-विधान के लिए भी प्रकृति का भरपूर उपयोग किया है। उनके द्वारा व्यवहृत राशि-राशि उपमाएँ और उत्प्रेक्षायें इसकी गवाह हैं। "अद्‌भुत एक अनुपम बाग" वाले पद में सूर ने रूपकातिशयोक्ति का विलक्षण व्यवहार किया है। सूर में "सृष्टि के रूपों, रंगों, क्रिया-कलापों आदि को सूक्ष्म दृष्टि से देखने की अद्‌भुत क्षमता है और उनकी सौन्दर्यांकन की रुचि अत्यन्त परिष्कृत और सुसंस्कृत है" [1]। सूर के आराध्य देव कृष्ण ही नहीं, उनके सभी पात्र वनविहारी हैं। उनकी प्रकृति सतत उनके पात्रों की मनोदशाओं को उद्दीप्त करती नजर आती है। यही नहीं, कवि ने प्रकृति के संवेदनात्मक स्वरूप की भी मार्मिक झाँकी प्रस्तुत की है। इनके अतिरिक्त, सूर ने वृन्दावन, यमुना, गोवर्द्धन आदि के वर्णन के बहाने ब्रज-प्रकृति के समग्र परिवेश के नाना उपकरणों और विविध व्यापारों आदि का ऐसा सूक्ष्मतम तथा हृदयावर्जक रेखांकन किया है, जिससे पाठक में उनके प्रति अनायास ही एक सुचारु संलग्नता की भावानुभूति होती है। इस प्रकार, कह सकते हैं कि सूर के प्रकृति-परिवेश में हमारी भावना और कल्पना को रमाने की अद्‌भुत क्षमता विद्यमान है।

1. महाकवि सूर : एक पुनश्चिंतन, डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, पृ. 191

# शिल्प-सौष्ठव

यों तो वाक् और अर्थ हमेशा अद्वय और अभिन्न होते हैं, किन्तु, व्यवहारतः उनकी प्रतीति के लिए हम शरीर और प्राण की तरह उन्हें दो पक्षों में रखकर देखते आये हैं। इनमें वाक्-पक्ष मूर्त और अर्थ-पक्ष अमूर्त होता है। काव्य में इन्हें हम क्रमशः कला या शिल्प और भाव या कथ्य पक्ष के नाम से जानते हैं। कला (शिल्प) हमारा सम्बन्ध अनन्त से जोड़ने में समर्थ होती है[1] । यद्यपि अब लोग काव्य की गिनती कला में करने लगे हैं तथापि काव्य स्वयं कला नहीं है। काव्य का क्षेत्र कला से अधिक व्यापक और विस्तृत है। काव्य में भावोत्कर्ष और सरसता लाने के लिए कला का आश्रय लेना ही पड़ता है। इस प्रकार काव्य के कला (शिल्प) पक्ष का अर्थ हुआ कविता का वह तत्त्व जो उसे प्रेषणीय और प्रभावोत्पादक बनाता है। कला कथ्य (भाव) को अनेक तरह से सँवारने का भी काम करती है। इसलिए, कला (शिल्प) साधन है, साध्य नहीं। शब्द, अलंकार, छन्द, गुण आदि कला के बाह्य उपादान हैं। किसी कवि के काव्य में कला (शिल्प) और भाव (कथ्य) पक्षों का जितना समुचित संयोग और सामन्जस्य होता है उतना ही उसके काव्य को हम उत्कृष्ट मानते हैं। कला-चेतना अभ्यासजन्य निपुणता की देन होती है, जिसमें अभिव्यक्ति के सहायक सभी तत्त्वों का समावेश होता है। सूर की कला-चेतना किस रूप-रंग की है, यहाँ हम इसकी परख-पड़ताल करने का प्रयास करते हैं।

सूर अनोखे भावों के अनोखे शिल्पी हैं। उनकी अभिव्यंजना पर प्रायः सर्वत्र उनकी आत्मीयता का रंग चढ़ा होता है। उनके बिंबग्राही अप्रस्तुतों, विस्तृत सांगरूपकों और एक ही कथ्य के तरह-तरह के कथन-कौशल को देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे काव्य-शिल्प के मर्मज्ञ मनीषी थे। इसलिए, आचार्य शुक्ल ने उनकी रचनाओं को काव्यांगपूर्ण मानते हुए लिखा है—**यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होनेवाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं**[2]। भाषा को हम कथ्य का नादमय चित्र कह सकते हैं। ऐसी चित्र-संरचना से कवि की कला-विषयक चेतना की स्पष्ट झलक मिलती है। काव्य की भाषा अपनी विशिष्ट भाव-भंगि की दृष्टि से सामान्य भाषा से कुछ भिन्न होती है।

## भाषा

सूर साहित्यिक ब्रजभाषा के सर्वप्रथम प्रयोक्ता हैं। यद्यपि ब्रजी में उनसे शताब्दियों पहले से साहित्यिक रचनाएँ होती आ रही थीं तथापि उसे पहली बार एक

1. Art is that which carries us to Infinity- Emerson.
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 113, सत्तरहवाँ संस्करण

व्यवस्थित साहित्यिक भाषा का स्वरूप सूर की रचनाओं से ही प्राप्त हुआ[1]। सूर की भाषा को ब्रजी का प्रथम साहित्यिक रूप मानते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है—**इन पदों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्य रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं[2]।**

## पद-प्रयोग

सूर के पहले ब्रजी के परिनिष्ठित और प्रतिष्ठित स्वरूप की परम्परा नहीं थी, इसलिए, जनप्रचलित भाषा के आश्रय से उन्होंने अपनी साहित्यिक भाषा की संरचना की। इस कारण, उनकी भाषा में तरह-तरह के पदों का सन्निवेश हो गया। संस्कृत के वे शब्द जो बोलचाल में प्रायः विकारीरूप में प्रचलित होते हैं, उन्हें कवि ने अपनी रचनाओं में उसी रूप में स्थान दिया। सूर की तद्भव बहुल पदावली-प्रयुक्ति का कारण यही है। इसके अतिरिक्त, कवि ने विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के पदों के साथ अरबी-फारसी के शब्दों का भी व्यवहार किया है। सबसे अधिक संस्कृत के तत्सम पदों के प्रयोग कवि की स्तोत्र-रचनाओं, सिद्धान्त-निरूपण और अप्रस्तुत योजनाओं में किए गये हैं। द्रष्टव्य है **तत्सम** पदों के प्रयोग का एक नमूना :

**गिरिधर, ब्रजधर, मुरलीधर, धरनीधर, माधौ पीताम्बरधर।**
**संख-चक्र-धर, गदा-पद्म-धर, सीस-मुकुट-धर, अधर-सुधा-धर।।**

कवि की भाषा में अर्धतत्सम शब्दों के प्रयोग भी पाये जाते हैं, जो परिमाण में कम नहीं हैं, यथा-**अपजस, आरत, कलेस, जनम, जोजन, परतीति, प्रापत, परभात, मरजाद, स्वारथ, सरबस** आदि। उसकी भाषा में संस्कृत के तद्भव शब्दों का सर्वाधिक व्यवहार हुआ है। तद्भव पदावली के बहुल प्रयोग से भाषा में सहज मृदुता और मिठास आ गयी है। इससे भावानुरूप बदलती भाषा प्रवाहमय और सप्राण हो उठी है। कवि की ऐसी पदावली उसकी वाक्-शक्ति की मूलाधार है। प्रस्तुत हैं कवि द्वारा व्यवहृत संस्कृत-तद्भव पदों के कुछ उदाहरण—**अचरज, आँसू, अँगूठा, कोख, काठ, जीभ, ताती, निनारे, पाहन, बैनँ, हिय, पाती, मसान, साँझ, लिलार** आदि। देशज **पदों** के प्रयोग भी कम नहीं हुए हैं। चूँकि देशज पद अर्थ की दृष्टि से प्रायः पर्याय-विहीन होते हैं, इसलिए उनका प्रयोग करना ही पड़ता है। **डहकावै, बिगोवै, मोट** आदि जैसे पदों को देखा जा सकता है। इनके अलावा कवि की ब्रजी में राजस्थानी (**पूरबली**-पूर्वकालीन), पंजाबी (**बिरियाँ**—बेला, समय), गुजराती (**बियौ**—दूसरा) आदि प्रान्तीय भाषाओं के अनेक पदों के प्रयोग भी पाये जाते हैं। अवधी के **मोर, हमार, तोर, तोहार** जैसे प्रयोग भी मिल जाते हैं।

---

1. सूर-निर्णय, पृ. 270, तृतीय संस्करण
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.113, सं. वही

## परदेशी पद

सूर के काफी पहले से अरबी-फारसी के शब्दों का व्यवहार सामान्य बोलचाल में किया जाने लगा था। कवि ने परदेशी भाषाओं के प्रचलित पदों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया है। उसने विदेशी ध्वनियों को देशी भाषा की ध्वनियों में ढालकर उनका व्यवहार किया है। प्रशासन-प्रबन्ध और राजदरबार-विषयक परदेशी पदावली का प्रचुर प्रयोग हुआ है। नमूने के लिए कतिपय ऐसे पद द्रष्टव्य हैं—**मुसाहिब, खसम, अमीन, खवास, दामनगीर, मुहकम, गरीबनिवाज, दलाली** आदि।

## सादृश्य-विधान

सूर सतत शोधी पद-प्रयोक्ता प्रतीत होते हैं। वे शब्द-चयन करते हुए कहीं संगीत, कहीं अनुप्रास-योजना और कहीं मनोभाव-माधुर्य पर निगाह रखते जान पड़ते हैं। भाषाविदों ने पद-प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए जिसे सादृश्य-विधान (Parallelism) कहा है, उसके तीन रूप हैं और उनके प्रायशः प्रयोग सूरसागर में पाये जाते हैं :

(1) **ध्वन्यात्मक (Phonological) सादृश्य :**

**मुकुट लटकनि भृकुटि मटकनि।**

(2) **शाब्दिक (Lexical) सादृश्य :**

**तनक चरन अरु तनक तनक भुज,**<br>**तनक बदन बोलै तनक सौ बोल।**<br>**तनक कपोल तनक सी दँतिया,**<br>**तनक हँसनि पर लेत है मोल।**

एक ही **तनक** शब्द की बहुशः आवृत्ति पद के संगीत के प्रभाव को और बढ़ा देती है। और,

(3) **रूपात्मक (Morphological) सादृश्य :**

**धाइ खायौ, अहि जगायौ, मनो छूटे हाथियाँ।**<br>**सहसफन फुफकार छाँड़े, जाइ काली नाथियाँ।।**

यहाँ भी **हाथियाँ** और **नाथियाँ** जैसे रूपसाम्यमूलक पद-प्रयोग संगीत-प्रभाव को बढ़ा रहे हैं। भाषा को अधिकाधिक व्यंजक बनाने के लिए सूर ने कभी ध्वनि, कभी अर्थ और कभी दोनों को आधार रूप में ग्रहण किया है। इनके व्यवहार से काव्य में कलात्मक चारुता का संचार हुआ है। कवि द्वारा प्रयुक्त ऐसे कुछ शब्द और हैं—**अरबराइ, अररात, चटचटात, झरझराति, कलमलात, भभकत** आदि।

इस तरह, सूर ने विभिन्न भाषाओं के पदों को अपनाकर ब्रजभाषा को सशक्त और समृद्ध किया है। सामान्य बोलचाल के शब्दों को ग्रहण कर उन्हें साहित्यिक रूप दिया और तरह-तरह की राग-रागिनियों के अनुरूप बनाकर नाद-सौन्दर्य से भी परिपूरित किया।

## मुहावरे और लोकोक्तियाँ

भाषा को प्रौढ़, सशक्त और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग की परम्परा पुरानी है। ये थोड़े में ज्यादा कहने की अपूर्व शक्ति रखते हैं। मुहावरों को हम लाक्षणिक प्रयोग या रूढ़ वाक्य कह सकते हैं जबकि लोकोक्तियों का आधार कोई न कोई कथा होती है। सूर ने मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रचुर प्रयोग किये हैं, जिनसे उनकी सूक्ष्म दृष्टि एवं विशद निरीक्षण का पता लगता है। मुहावरे और लोकोक्तियों के सर्वाधिक प्रयोग भ्रमरगीत प्रकरण में किए गये हैं। द्रष्टव्य हैं कवि के कुछ ऐसे प्रयोग :

**मुहावरे— अँगुरी गहत गह्यौ जिहिं पहुँचौ, इतनौ कहा गाँठि को लागत, एक बात की बीस बताई, काहे को द्वै नाव चढ़त हौ, जरे पर जारत, घर के चोर, हंस काग के संग** आदि।

**लोकोक्तियाँ—अपने स्वारथ के सब कोऊ, जाहि लगै सोई पै जानै, सूरदास खल काली कामरि चढ़ै न दूजौ रंग, सूर सुकत हठि नाव चलावत ये सरिता है सूखी, ताकौ कहा परेखौ कीजै जानै छाछ न दूधौ, स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै सूधी कहु न करी, जल बूड़त अवलंब फेन को** आदि।

## शब्द-शक्ति

सूर की काव्य-भाषा में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीनों शब्द-शक्तियों के प्रसन्न प्रयोग पाये जाते हैं। अर्थ की दृष्टि से अभिधा में वाच्यार्थ, लक्षणा में लक्ष्यार्थ और व्यंजना में व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है। वाच्य अर्थ कथित, लक्ष्य अर्थ लक्षित और व्यंग्य अर्थ व्यंजित, ध्वनित या प्रतीत होता है।

**अभिधा**—सूर ने अपनी रचनाओं में सबसे अधिक अभिधा का ही व्यवहार किया है। सूरसागर के लीला-वर्णन का अधिकांश वाच्यार्थ प्रधान पदावली के माध्यम से सामने आता है। सूर की सात्त्विक रस-चेतना अभिधा-निर्भर उस स्वभावोक्ति-पद्धति पर अपने को अभिव्यक्त करती है, सत्त्वोद्रेक जिसके मूल में होता है। इसलिए, कवि ने इसका अधिकाधिक प्रयोग किया है। इस सम्बन्ध के उल्लेख्य प्रसंग हैं— **बाल-लीला, माखन-चोरी, चीर-हरण, रास, दान, मान,** आदि। यथा—**प्रथम करी हरि माखन चोरी, किलकत कान्ह घुटुरुचनि आवत, जसुमति मन अभिलाषा करै** आदि।

**लक्षणा**—अदृश्य वस्तु का बिम्ब-ग्रहण और उसकी चित्रमय योजना के लिए प्रायः कवि लक्ष्यार्थ प्रधान अभिव्यक्ति का आश्रय लेते हैं। सूर ने अपनी प्रखर कल्पना से वर्ण्य वस्तु को साकार कर दिया है। द्रष्टव्य हैं ऐसे कतिपय प्रयोग—**सुत-मुख देखि जसोदा फूली, अँखियाँ हरि-दरसन की भूखी, पिया बिनु नागिन कारी रात, वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं, जे नँदलाल कहीं** आदि। कवि के ऐसे प्रयोगों में वाग्वैदग्ध्य, उक्ति-वैचित्र्य के साथ कोमलता और सरसता भी खूब मिलती है।

**व्यंजना**—कवि जहाँ रसावेग से आत्मविभोर होता है वहाँ व्यंजना शक्ति का समाश्रय लेता है, जिससे उसके काव्य में मार्मिकता और प्रभावोत्पादकता का अपूर्व संचार होता है। इस तरह के कुछ वर्णन माखन-चोरी के प्रसंग में मिलते हैं। सूर की रमणीय व्यंजनाएँ सहृदयों के चित्त-वित्त पर एकाधिकार कर लेती हैं। बाल-लीला के पदों में अकसर व्यंजना के मार्मिक प्रयोग मिलते हैं। राधा-कृष्ण का समग्र प्रणय-प्रासाद इसी रमणीय व्यंजना की नींव पर खड़ा है। सूर के भ्रमरगीत को हम व्यंजना की मधुमती भूमिका कह सकते हैं। आचार्य शुक्ल ने सूर के दो वाक्यांशों को लेकर उनके व्यंग्यार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—**'सूरदास वै अति खोटे', 'कारो कृतहि न मानै' ऐसे-ऐसे वाक्यों पर साहित्यिक दृष्टि से जो थोड़ा भी ध्यान देगा, वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गए हैं, न काले कलूटे कृतघ्न। पहला वाक्य सखी की विनोद या परिहास की उक्ति है, सरासर गाली नहीं है। सखी का यह विनोद हर्ष का ही एक स्वरूप है जो उस सखी का राधाकृष्ण के प्रति रतिभाव व्यंजित करता है। इसी प्रकार दूसरा वाक्य विरहाकुल गोपी का वचन है जिससे कुछ विनोदमिश्रित अमर्ष व्यंजित होता है। यह अमर्ष, यहाँ विप्रलम्भ शृंगार में रतिभाव का ही व्यंजक है**[1]। इस तरह, व्यंजना के विविध रूपों से सूरसागर ओतप्रोत है।

## काव्य-गुण

सूर ने अपनी अभिव्यंजना में काव्य के माधुर्य, प्रसाद और ओज नामक गुणों का सन्निवेश किया है। माधुर्य वह गुण है जिससे अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाय—आर्द्र हो जाय। सूखे ईंधन में आग जैसे दप से जल उठती है वैसे ही जो गुण चित्त में शीघ्र व्याप्त हो जाता है अर्थात् रचना का बोध करा देता है वह प्रसाद-गुण है। ओज वह गुण है जिससे चित्त में स्फूर्ति आ जाय, मन में तेज उत्पन्न हो जाय।

**माधुर्य**—कवि की अधिकांश रचनाओं में माधुर्य-गुण का व्यवहार किया गया है। बाल-छवि, जल-विहार, रास-लीला, मान-लीला, मुरली-प्रसंग, नैन समय, भ्रमरगीत आदि प्रकरणों में माधुर्य व्यंजक पदों के प्रयोगों की छटा ही दिखाई देती है :

**कहाँ लौं बरनौं सुदरताई ?**
**खेलत कुँवर कनक आँगन मैं, नैन निरखि छबि पाई।।**

**प्रसाद**—वात्सल्य रस-प्रधान पदों में कवि ने प्रसाद-गुण का प्रयोग किया है। ऐसे पदों में प्रयुक्त वर्णों की ध्वनियों से ही अर्थबोध होने लगता है। इसके साथ कवि की तद्भव पदावली भावों को और सहजता प्रदान करती है। इसलिए, हम प्रसाद गुण को सूर-काव्य का केन्द्रीय गुण कह सकते हैं। कवि ने अपने विनय के पदों में भी इस गुण का व्यवहार किया है। इस तरह के कुछ उदाहरण यों देखे जा सकते हैं—

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 361, 17वाँ संस्करण

**किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत, जसुमति मन अभिलाष करै, हरि अपनै आँगन कछु गावत, मो सम कौन कुटिल खल कामी** आदि।

## ओज

कवि ने ओज-गुण का व्यवहार कृष्ण की असुर-संहारक अद्‌भुत व्यापार-व्यंजक लीलाओं के साथ दावानल तथा प्रलयकालीन वृष्टि-वर्णन आदि प्रकरणों में किया है। ओजगुण-प्रधान वर्णों की योजना के माध्यम से सूर ने भय, ओज, उत्साह, सन्ताप आदि भावों का अपूर्व मार्मिक चित्रण किया है। यथा :

**भहरात झहरात दवानल आयौ।**
**बरत बन बाँस, थरहरत कुस, काँस जरि उड़त है भाँस, अति प्रबल धायौ।**
**झपटि झपटत लपट, फूल फल चट चटकि, फटत लट लटकि द्रुम द्रुम-नवांयौ।**

इस प्रकार, सूर-काव्य की सारी वर्ण-योजना रसानुकूलमयी होने से उनके भावों का अपूर्व कलात्मक संवर्द्धन करती है।

## चित्रमयता

सूर मनोभावों के अद्‌भुत पारखी थे। इसलिए, उनके वर्णन में चित्रात्मकता का सहज रूप देखने को मिलता है। संगीतात्मक पदविन्यास को पाकर चित्रमयता और भी रमणीय हो गयी है। विषयानुकूल शब्दावली और अपनी प्रकृष्ट कल्पना-शक्ति के सहारे कवि कृष्ण के रूप-सौन्दर्य और उनकी लीलाओं का सजीव चित्र खड़ा कर देता है। पात्रों के संवादों से उनकी भाव-भंगिमा का दृश्य भी साकार हो उठता है। सूर की चित्र-योजना प्रायः दो रूपों में सामने आती है—आलम्बन-चित्र एवं अनुभाव-चित्र। संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत राधा-कृष्ण के बहुत से आलम्बन-चित्रों को देखा जा सकता है। राधा-कृष्ण की लीलाओं के वर्णन के बीच में नख-शिख निरूपण की चित्रमयता भी दिखाई देती है। अनुभाव-प्रधान चित्रों में कवि ने विभिन्न पात्रों के कायिक, वाचिक और मानसिक अनुभावों के अत्यन्त स्वाभाविक और जीवन्त चित्रों की सर्जना की है। सूरसागर कवि की चित्रण-कला के बहुत से भावपूर्ण उदाहरणों से आपूरित हैं।

## भावानुकूलता

सूर की समग्र संरचना भावमय ब्रजभाषा में की गयी है। उन्होंने भावों के अनुकूल ही शब्दों का संचयन किया है। चूँकि कवि ने कृष्ण-लीला के सरस और प्रभावोत्पादक प्रकरणों को ही अपने काव्य का विषय बनाया है, इसलिए, उसके काव्य की सम्पूर्ण भाषा प्रसंग के अनुकूल सरस और प्रभावपूर्ण है। वात्सल्य और श्रृंगार के प्रसंगों में भाषा की माधुरी वृत्ति का व्यवहार किया गया है।

भावों के अनुरूप भाषा के व्यवहार के कारण सूर की काव्य-भाषा अनेकरूपिणी हो गयी है। वर्णनात्मक प्रसंगों की भाषा जहाँ सामान्य रूप की है वहाँ कलात्मक वैशिष्ट्य के गीतों की भाषा काफी संयत और थोड़े में बहुत कहने की शक्ति रखती है। समर्थ भाव के जोड़ की समर्थ भाषा लाने की क्षमता में सूर बेजोड़ हैं।

इस प्रकार, निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि सूरदास का ब्रजभाषा पर असाधारण अधिकार है। उनकी काव्य-भाषा में अभिव्यक्ति के समस्त उत्कृष्ट गुणों का समाहार हुआ है। सूर ने पहले से चली आती हुई ब्रजभाषा को अपने प्रयोगों के माध्यम से शुद्ध साहित्यिक रूप प्रदान किया, यह उनकी सर्वोपरि विशेषता थी। कवि द्वारा प्रयुक्त पदों में यत्र-तत्र सामान्य प्रकार की विकृतियाँ तो मिल सकती हैं, परन्तु, उनमें न तो कोई शब्द निरर्थक प्रयुक्त हुआ है और न रसहीन ही।

## प्रगीत-काव्य

सूर प्रगीत-काव्यरचना-शैली के भी महाकवि हैं। इस रचना-शैली का उनसे बड़ा रससिद्ध और सफल कवि हिन्दी में दूसरा नहीं हुआ। साधारणतः सूरदास द्वारा विरचित विविध रूप-स्वरूप के पदों को देखकर उनकी गणना हम प्रगीतों में कर लेते हैं, जबकि यह बात सर्वांशतः सही नहीं है। एकान्त आत्माभिव्यंजन, जिसे कलागीतों का आत्मतत्त्व माना जाता है, के दर्शन सर्वत्र नहीं होते। सूरसागर के सारे पदों में गीतों के लिए अनिवार्य वैयक्तिक भावावेशमयता की स्थिति नहीं पाई जाती। कवि का अधिकांश कृतित्व कृष्ण-लीलाओं के चित्रण से आपूरित होने के कारण उसमें आत्मनिवेदन का तत्त्व नहीं पाया जाता। सूरसागर के कथा-तत्त्व उसके गीत-स्वरूप में अवरोध पैदा करते हैं। सभी पद अपने आप में पूर्ण और स्वतन्त्र होकर भी कथा-सूत्र में बँधे होते हैं। तात्पर्य यह कि सूरसागर के सभी पदों को कला-गीतों में परिगणित नहीं किया जा सकता। इसका कारण यही है कि गीत के मूल तत्त्व आत्माभिव्यक्ति, गेयता आदि बातें सब में समान रूप से नहीं पाई जातीं। जगह-जगह नीरस और शुष्क कथा-प्रकरण भी पाये जाते हैं। शिल्प की दृष्टि से सूर के पदों को पाँच प्रकार का माना गया है— **कलागीत, शुद्ध गीत, परिष्कृत लोकगीत, छन्दात्मक पद तथा दृष्टकूट** पद।

सूर ने अपने एकदम मौलिक प्रकरणों के चित्रण में कलागीतों की सृष्टि की है। ऐसे गीतों में कवि के व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक भी मिलती है। कृष्ण की लीलाओं और सूर की अनुभूतियों में जहाँ-तहाँ तादात्म्य हुआ है वहाँ-वहाँ कलागीतों का मार्मिक सृजन हुआ है। ऐसे गीतों में कला और संगीत का युगपत् समन्वय हुआ है। कलागीतों में मधुर भावों की अभिव्यंजना का प्राधान्य है। कवि के गीतकाव्य-शिल्प का सर्वश्रेष्ठ ऐसे ही गीतों में अभिव्यक्त हुआ है। ये गीत अपने में सर्वथा पूर्ण होते हुए भी कल्पना की ऊँची उड़ान से भी सम्पन्न हैं।

जिन पदों में सूर के भक्तिलीन चित्त का सहज आत्मनिवेदन अभिव्यक्त हुआ है, उन्हें हम शुद्ध गीत कह सकते हैं। सीधी-सादी पदावली में अन्तर की मार्मिक अनुभूतियों को ऐसे गीतों में व्यक्त किया जाता है। इनमें गेयता भी मिलती है। सूर के

विनय के पद इसी कोटि में आते हैं। इनके अतिरिक्त सूरसागर में पाये जानेवाले नाम-महिमा, आत्म-ज्ञान, उपदेश आदि विषयों से सम्बद्ध पदों को भी शुद्ध गीत-काव्य की कोटि में रखा जा सकता है।

सूर ने लोक-प्रचलित गीत-शैली का अनुसरण कर सूरसागर के बहुत से गीतों की रचना की है। लेकिन, कवि ने ऐसे लोकगीतों के संगीत और भाषा को परिष्कृत और परिमार्जित कर अपने ढंग से अपनाया है। कवि की अन्तश्चेतना ने ऐसे गीतों में व्याप्त लोकचित्त से तादात्म्य स्थापित कर लिया है। लोकगीतों के बहुत से प्रकारों को लेकर कवि ने उन्हें शास्त्रीय संगीत और स्वाभाविक कलात्मक संस्कार से सँवारकर प्रस्तुत किया है, जिनमें **प्रभाती, सावन, सोहर, होली, बिरहा, कजली, धमार** आदि भेद उल्लेख्य हैं। इस प्रकार के गीतों को न तो सायास सुसज्जित करने की कोशिश ही की गयी है और न उनके सहज अनगढ़पन को मिटाया ही गया है। लेकिन, कहीं-कहीं इन लोकगीतों में इतना परिष्कार कर दिया गया है कि वे कलागीत जान पड़ते हैं।

इनके अतिरिक्त, सूरसागर के वे अंश जो कथा-पूर्ति-हेतु विरचित हुए हैं और जिनमें कथा का कोरा कथन मात्र किया गया है, गीत न होकर वे छन्दबद्ध पद मात्र हैं। इसलिए, सूरसागर के **छन्दात्मक पदों** को हम गीत नहीं मान सकते। ऐसे अंशों में अनुभूति का योग नहीं दिखाई देता। इस तरह के प्रकरणों में कवि ने चौपाई, चौपई, रोला, सार, सरसी, चौबोला, हरिगीतिका, दोहा आदि छन्दों का प्रयोग किया है। सूरसागर के छन्दात्मक पद कवि की सर्जनात्मक प्रवृत्ति के प्रतिकूल लगते हैं। केवल रागबद्ध होने से इन्हें गीत कहते हैं। ये छन्दात्मक पद प्रायः भागवत का अनुसरण करने के हेतु ही रचे गये हैं।

सूर के गीत-शिल्प की एक विशिष्ट प्रवृत्ति उनके **दृष्टकूट पदों** के रूप में मिलती है, जिनमें शब्द-क्रीड़ा और चमत्कार-प्रदर्शन का प्राधान्य है। संगीत में आबद्ध होने मात्र से ही हम इन्हें गीत-काव्य कह सकते हैं, वरना इनमें न तो कवि की आत्मानुभूति ही दिखाई देती है और न गीत-काव्य की प्रभावान्विति ही। सूरसागर में तीन सौ के लगभग दृष्टकूट पद पाये जाते हैं।

डॉ. नगेन्द्र ने सूरसागर के पदों को प्रगीत की दृष्टि से तीन वर्गों में रखा है—**भाव-गीत, कला-गीत** और **कथा-गीत**। इनमें पहले वर्ग के अन्तर्गत उन विनय-पदों की गणना की जा सकती है, जिनमें इष्टदेव के प्रति कवि का सीधा आत्म-निवेदन है। ये पद शुद्ध प्रगीतों के उदाहरण इस अर्थ में हैं कि इनमें भौतिक आधार से सर्वथा मुक्त, भक्त-हृदय के प्रबल आवेग का सहज उच्छलन हुआ है। कलात्मक प्रगीत वे हैं जो किसी रमणीय प्रसंग के झीने आवरण में राधा-कृष्ण के सौन्दर्य अथवा उनकी शृंगार-लीलाओं का अलंकृत भाषा में रंगीन बिम्बों के माध्यम से निरूपण करते हैं। ये प्रगीत स्वभावतः कवि की व्यक्तिगत भावनाओं के उद्‌गीथ न होकर कलात्मक साँचों

में ढले हुए हैं किन्तु फिर भी, इनमें आत्मतत्त्व और भावना का गहरा रंग स्पष्ट रूप में विद्यमान है। इनके अतिरिक्त सूरसागर में ऐसे पद भी काफी संख्या में मिलते हैं जिनमें लोकतत्त्व प्रधान है। उपर्युक्त तीनों प्रकार की पदावली स्पष्ट रूप में प्रगीत गुण से सम्पन्न है। प्रगीत काव्य के सभी मूलतत्त्व यहाँ प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं और सर्वत्र व्याप्त भक्ति की अन्तर्धारा इन पदों को भावात्मक अन्विति प्रदान करती है[1]।" कवि के पदों की सांगीतिक योजना भी उसके प्रगीत गुणों की अभिवृद्धि करती है। सभी पद राग-रागिनियों में आबद्ध होते हैं। पद की टेक में मूलभाव का सहसा स्फुरण हो जाता है। परवर्ती उसके सारे चरण उसका लयात्मक अनुसरण करते हुए पूरे पद की रचना को एक अन्विति प्रदान करते हैं।

## छन्द-प्रयोग

प्रायः सूरसागर के सभी पद गेय पद-शैली में विरचित हुए हैं। ऊपर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने विभिन्न प्रकार के छन्दों का व्यवहार नहीं किया है, जबकि वस्तु-स्थिति इससे एकदम भिन्न है। वास्तविकता तो यह है कि सूरसागर में पाये जानेवाले पद नाना छन्दों में रचे गये हैं। चूँकि सूर के पहले से छन्द और काव्य का अभिन्न सम्बन्ध चला आ रहा था, इसलिए, वे भी उसके उपयोग से बच नहीं पाये। सूर ने अपने से पूर्ववर्ती हिन्दी–काव्य में प्रचलित छन्दों को अपनी गेय पद-शैली में ऐसे कौशल से आत्मसात् कर लिया है कि उनकी पदावली विविध छन्दमयी है, सामान्यतः इसका आभास तक नहीं होता। सूर से पहले हिन्दी–काव्य में चार प्रकार की छन्द-पद्धतियाँ प्रचलित थीं—दोहा-पद्धति, वीरगाथा काल की छप्पय-पद्धति, चारणों की कवित्त-सवैया-पद्धति और अपभ्रंश कवियों की कडवक (चौपाई-दोहा) पद्धति। सूर की रचनाओं में इन सभी छन्द-पद्धतियों के प्रयोग मिलते हैं।

सूर ने अपने पदों में प्रमुखतः **चौपाई, चौपई, चौबोला, दोहा, रोला** और **पादाकुलक** के साथ गौणतः **चन्द्र, चन्द्रायण, सुखदा, कुण्डल, भानु, हरि, तोमर, राधिका, रूपमाला, गीतिका, शोभन, सरसी, हरिपद, विष्णुपद, लावनी, सार, वीर, हरिप्रिया, मनहरण** आदि छन्दों के प्रयोग किए हैं। कवि ने इन छन्दों के पृथक्-पृथक् प्रयोगों के साथ इनके मिश्रित प्रयोग भी किए हैं। छन्दों के ऐसे मिश्रित प्रयोगों से कवि की छन्दविषयक मौलिक प्रयोगों की पहचान बनती है।

इस तरह, सूर ने केवल प्रगीतों में ही पदरचना नहीं की है वरन् वर्णिक और मात्रिक छन्दों के प्रचुर प्रयोग भी किए हैं। यद्यपि इन छन्दों को संगीत का जामा पहनाते हुए इनमें यति-भंग अथवा गति-भंग–जैसे दोष आ गये हैं तथापि गेय-दृष्टि से वे सर्वथा निर्दोष हैं। कवि ने ऐसे अनेक छन्दों के स्वरूप में परिवर्तनकर उनमें निखार ला दिया है।

1. सूर की सौन्दर्य-भावना और उसकी सार्थकता, 'सूर-मन्दाकिनी' में संगृहीत लेख, पृ. 9

सूर ने अपने ऐसे बहुत से मौलिक छन्द–प्रयोगों से आगामी हिन्दी कवियों का पथ प्रशस्त किया है। उन्होंने अपने पदों में रस और राग की अनुकूल स्थिति के साथ समय-सिद्धान्त का भी परिपालन किया है। सूर श्रीनाथजी की अठपहरी सेवा के लिए जो पद बनाकर गाते थे वे यथोचित समय-सीमा में बँधे होते थे। पुष्टिमार्गीय सेवा के अवलम्बन से सूर का काव्य, कला की दृष्टि से समृद्ध हुआ है। सूर द्वारा विरचित समस्त साहित्य की मीमांसा से इस बात की स्पष्ट प्रतीति होती है कि पिंगलशास्त्र का शायद ही ऐसा कोई छन्द हो, जिसका व्यवहार सूर ने न किया हो। इस विचार से सूरसागर को मध्यकालीन हिन्दी-काव्य-छन्दों का व्यावहारिक कोश माना जा सकता है।

## अलंकार-विनियोग

प्रायः हर साहित्य-साक्षर इस बात से अवगत होता है कि काव्य में अलंकारों का व्यवहार उसके सौन्दर्य-संवर्द्धन के लिए किया जाता है। यह सौन्दर्य भावों का भी हो सकता है और उनकी अभिव्यक्ति का भी। अलंकार जहाँ एक ओर भावों को सँवारकर उन्हें रमणीय बनाते हैं वहाँ दूसरी ओर उनकी अभिव्यक्ति को प्रांजलकर उसे प्रभावशाली भी बनाते हैं। अलंकार-विनियोग की ऐसी सफल निष्पत्ति की चर्चा करते हुए ध्वन्यालोककार ने लिखा है कि **रस-भाव आदि के तात्पर्य का आश्रय ग्रहणकर ही अलंकारों का सन्निवेश करना आवश्यक है। ऐसी दशा में ही वे अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं**[1] आचार्य शुक्ल ने इस कथन के आशय को और खोलते हुए यों बताया है— **भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।** इस कथन में अलंकारों की प्रभावोत्पादकता और प्रेषणीयता भी आ जाती है। कहना न होगा कि यहाँ अलंकार-व्यवहार की सार्थकता और उसके काव्य-साधक स्वरूप के विषय में जितनी बातें की गयी हैं, कतिपय अपवादों को छोड़कर, उनका विनियोग उन्हीं रूपों में सूर ने अपने काव्य में किया है। दूसरे शब्दों में, काव्य में अलंकारों का जैसा वास्तविक और सहृदय-संवेद्य विनिवेश होना चाहिए, वैसे अलंकार-प्रयोगों में सूर अपना सानी नहीं रखते। साहित्यलहरी और सूरसागर के थोड़े से दृष्टकूट-पद्धति के पदों को छोड़कर उनके अलंकार-व्यवहार की मूलवृत्ति भावोत्कर्ष-विधायिका और वस्तुओं के रूप, गुण तथा क्रिया का तीव्र अनुभव कराकर अभिव्यक्ति को मनोरम बनानेवाली है।

सूर मध्यकालीन हिन्दी-काव्य के महान् भाव-साधक महाकवि हैं। ये भाव-भंगिमाएँ ही कथन-भंगिमाओं की जननी होती हैं, जिन्हें हम अलंकार कहते हैं। सूर की

1. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्।।—ध्वन्यालोक

सुकुमार और सहज अलंकृत काव्य-वृत्ति ने वात्सल्य और शृंगार (माधुर्य) रस का जो महाप्रदेय प्रदान किया, वह बखान के परे है। प्रस्तुत ही नहीं, अप्रस्तुत-विधान के भी वे महान् कलाकार हैं और उनके काव्य में इन दोनों विधानों का मणिकांचनवत् अत्यन्त सन्तुलित विनियोग हुआ है। इसलिए, आचार्य शुक्ल ने लिखा है—**सूर में जितनी सहृदयता और भावुकता है प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी है।** अन्य बातों के सिवा अलंकार-प्रयोगों को लेकर भी निर्गुण-सगुण भक्त कवियों के काव्य में बड़ा अन्तर पाया जाता है। सुन्दरदास—जैसे एकाध अपवाद को छोड़कर, शास्त्रज्ञ न होने से, सारे निरगुनियों के काव्यालंकार जहाँ वन में उगे झाड़-झंखाड़ लगते हैं, वहाँ सगुणियों के अलंकार उपवन में सुनियोजित और सुव्यवस्थित रूप में परम प्रशिक्षित उद्यानपाल द्वारा सुरोपित चित्र-विचित्रमयी महमह करती मनोहारिणी पुष्पवाटिका से प्रतीत होते हैं। सूर और तुलसी ऐसे सगुणमार्गी अलंकार-प्रयोक्ता कवियों के चूड़ामणि हैं। अष्टछापी नन्ददास के विषय की यह अनुश्रुति मेरे इस कथन का कम बड़ा प्रमाण नहीं पेश करती, जिसमें यह बताया गया है कि अन्य कवि अभिव्यंजन को ठोक-पीटकर भोड़े भाव से गढ़ते हैं और, इसके विपरीत, नन्ददास एक परम पारखी और प्रदक्ष जौहरी की भाँति यह देखकर कि किसी स्वर्णाभूषण में कौन-सा रत्न किस जगह जड़ा जाए, जिससे वह अपने में सर्वाधिक शोभन प्रभाव की दीप्ति दे सके :

**और सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया।**

इसके अतिरिक्त, मेरे उक्त कथन का एक अकाट प्रमाण सन्तकाव्य-धारा के एकमात्र सुशिक्षित कविवर सुन्दरदास का यह कथन और है, जिसे उन्होंने अपनी धारा के ढेरों कवियों की ढेरों कविताओं में मात्र अलंकार की ही नहीं, उससे बड़ी काव्यानुभूति, व्याकरण, तुक, छन्द, अर्थ आदि विषयक बहुत सारी त्रुटियों और अशुद्धियों को देख उसकी घोर प्रतिक्रिया में लिखा था :

**बोलिए तो तब जब, बोलिबे की कछु होय,**
**न तौ मुख मौन गहि चुप ह्वै रहिए।**
**जोरिए तो तब जब, जोरिबे की रीति जानै,**
**तुक छन्द अरथ अनूप जामै लहिए।**
**गाइए तो तब जब, गाइबे को कंठ होय,**
**स्रवन के सुनत ही, मन जाइ गहिए।**
**तुकभंग छन्दभंग, अरथ मिलै न कछु,**
**सुन्दर कहत ऐसी बानी नहिं कहिए।।**[1]

सूर ऐसे रसचेता महाकवि हैं, जिनकी अलंकृत दृष्टि रस-सिद्धि को साथ लेकर अग्रसर होती है। उनके अलंकार उनके भावावेग की देन कहे जा सकते हैं। सूर के ये अलंकार अपनी सुप्रयुक्ति की सहज मिठास के कारण ऐसे मधुकोश प्रतीत होते हैं,

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृ. 62, 17वाँ संस्करण

जो मधुपति की मधुर लीलाओं के मधु से ओतप्रोत लगते हैं। दृष्टकूट के शब्दक्रीड़ा वाले प्रसंग को छोड़कर कवि की मूल अलंकार-वृत्ति सतत भावोत्कर्ष से ही सम्पृक्त देखी जाती है। इसलिए, सूर की अलंकार-योजना में न तो किसी आयास के दर्शन होते हैं और न अलंकारों के अतिरिक्त बोझ से काव्य को दबाने की कोई नाजायज़ कोशिश ही नजर आती है। आशय यही कि रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से कवि के अलंकार निसर्गसिद्ध-रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कहना न होगा कि भावावेश की दशा में स्वतः साधनरूप में फूट पड़नेवाले ऐसे अलंकार-व्यवहार ही रसोत्कर्ष के सच्चे सहयोगी माने जाते हैं। यह बात जरूर है कि सूर की कला-चेतना यत्र-तत्र उस अतिशयित सीमा का संस्पर्श कर लेती है, जिसे विहित और संगत नहीं कहा जा सकता है। लेकिन, ऐसा होते हुए भी एक सुखद आश्चर्य तब होता है जब उनके ऐसे पदों की भावप्रवणता बराबर अपनी जगह अक्षत और अक्षुण्ण बनी रहती है, जिसे कवि के अलंकार-प्रयोग की एक बड़ी खूबी मानना चाहिए।

सूर ने अलंकारों के सर्वाधिक सुष्ठु प्रयोग सौन्दर्य-बोध के उन्नयन के लिए किए हैं। उनके काव्य में अर्थालंकार-प्रयोगों का प्राधान्य है। सूर-काव्य का एक अहम पहलू रूप-सौन्दर्य का चित्रांकन है, जिससे भाव-सौन्दर्य का भी परिपोष होता है। ऐसे चित्रणों में भी अर्थाधारित अलंकार ही सर्वाधिक प्रयुक्त हुए हैं। मात्र **साहित्यलहरी** में शब्दालंकारों के अधिकाधिक प्रयोग पाये जाते हैं। कवि ने प्रकृति, लोक और शास्त्र से अपने अप्रस्तुतों का संचयन करते हुए राधा और कृष्ण के रूप-सौन्दर्य तथा उनकी लीलाओं के चित्रण में उनका उपयोग किया है। उसने अपनी समृद्ध अलंकार-योजना द्वारा अपने कथ्य की परिमित स्थिति के अभाव की बहुत कुछ आपूर्ति भी कर दी है। सूर ने विशेषतः रूप-सौन्दर्य को सहृदय-संवेद्य बनाने के लिए सनाल कमल, घन-दामिनी, नील मेघ आदि जैसे प्राचीन परिपाटी के अप्रस्तुतों का व्यवहार किया है।

शब्दालंकारों में सूर ने यमक, अनुप्रास, श्लेष, वक्रोक्ति और वीप्सा के विशेष प्रयोग किए हैं। इनमें श्लेष और यमक के प्रचुर प्रयोग दृष्टकूट-पदों में पाये जाते हैं। अनुप्रास-प्रयोग की सहज छटा तो प्रायः सर्वत्र ही देखी जा सकती है। ऐसे प्रयोगों से जहाँ एक ओर भाषा-लालित्य का संवर्द्धन हुआ है वहाँ दूसरी ओर काव्योपकारी सरस वातावरण की सृष्टि भी हुई है। शायद ही सूरसागर में ऐसा कोई पद मिले, जिसमें किसी न किसी रूप में अनुप्रास की योजना न की गयी हो। वीप्सा के माध्यम से राधा-कृष्ण के स्वरूप-सौन्दर्य का बारम्बार उद्घाटनकर कवि अपनी भाव-भक्ति का प्रगाढ़ परिचय देता है। यद्यपि दृष्टकूट शैली के पदों को छोड़कर यमक के प्रयोग उतने अधिक नहीं मिलते तथापि विरल ही सही उसके कतिपय और उदाहरण मिल ही जाते हैं। यथा– **ऊधौ जोग जोगहिं देहु; ऊधौ जोग जोग हम नाहीं;** आदि।

सूर श्लेष का व्यवहार करते समय यमक की अपेक्षा उसके अर्थ-गौरव पर ज्यादा ध्यान देते प्रतीत होते हैं :

**ऊधौ हरिगुन हम चकडोर।**
**गुन सौं ज्यौं भावै त्यौं फेरौ, यहै बात की ओर।।**

**गुन** शब्द यहाँ श्लिष्ट है, जिसके अर्थ हैं—डोरी, गुण या सगुणता। कृष्ण-प्रेम की दीवानी गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—हमारी प्रीति (सगुण भक्ति) कृष्ण से चक-डोर (डोर के सहारे नाचनेवाली चकई) की भाँति अनन्यभाव से जुड़ गयी है। वे अब अपनी (गुण की) डोरी में लपेटकर (चकईरूप) हम गोपियों को जैसा चाहें वैसा नचायें। अर्थात् हम उनकी मरजी की गुलाम हो बैठी हैं। इसी तरह का एक उदाहरण और

**बिहरति मानसर सुकुमारि।**
**कैसैहूँ निकसति नहीं, हौं रही करि मनुहारि।।**

**मान** पद के दो अर्थ-रूठना और मानसरोवर। मनुहार करने पर भी उससे **निकसति नहीं** के पद-प्रयोग श्लिष्टार्थ की पुष्टि-हेतु ही किये गये हैं।

सूर वक्रोक्तियों के बड़े समृद्ध और सम्पन्न कलाकार हैं। उनकी ऐसी उक्तियाँ प्रायः भावप्रेरित होकर ही सामने आती हैं। कवि के ऐसे उक्ति—वैचित्र्य के आलंकारिक काव्योत्कर्ष को सूरसागर के बिखरे संवादों में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जिन अपर प्रकरणों में वक्रोक्तियों के प्रचुर प्रयोग पाये जाते हैं, उनके नाम हैं— विनय के पद, माखन-चोरी, राधा-कृष्ण प्रथम मिलन मुरली-प्रसंग, दान-लीला, पनघट-लीला, मान-लीला आदि। इन प्रसंगों के माध्यम से सूर ने वाग्वैदग्ध्य का अत्यन्त मार्मिक परिचय दिया है। वक्रोक्ति को शृंगार का सर्वस्व कहा जा सकता है। प्रेमी-प्रिय अब भी रागातिशयता की दशा में अपने को सर्वाधिक वक्रोक्तियों के सहारे ही व्यक्त करते हैं, चाहे वह संयोग की अवस्था हो या वियोग की। इस दृष्टि से सूर के भ्रमरगीत को हृदयावर्जक वक्रोक्तियों का अक्षय मधुकोश कहा जा सकता है। कवि की इस विलक्षण वाग्व्यापार-उद्भाविका कला ने उसके काव्य को अनोखी सरसता प्रदान की है। प्रस्तुत हैं इस आशय के कतिपय उदाहरण :

(क) **आयौ घोष बड़ौ ब्यौपारी।**
**खेप लादि गुरुज्ञान जोग की, ब्रज मैं आनि उतारी।।**

(ख) **ऊधौ जोग बिसरि जनि जाहु।**
**बाँधौ गाँठि छूटि परिहै कहूँ, फिरि पाछे पछिताहु।।**

(ग) **ऊधौ जोग कहा है कीजतु।**
**ओढ़ियत है कि बिछैयत है, किधौं खैयत है किधौं पीजतु।।**

सूर के अलंकार-विधान में जो चमत्कारप्रियता मिलती है, उसमें उनकी काव्योत्कर्षमूलक सहृदयता का पुट बराबर वर्तमान होता है। इसे हम उनके अलंकार-व्यवहार की सर्वोपरि विशेषता मान सकते हैं। कवि इसीलिए, अपनी रचनाओं में मात्र अलंकारों के लिए अलंकारों का व्यवहार नहीं करता। उसका वाग्वैदग्ध्य भी इसी कारण प्रायः सर्वत्र सरस और भावोपकारी होता है। यों तो भावों की श्रीवृद्धि के लिए

कवि ने नाना प्रकार के अलंकारों का व्यवहार किया है, किन्तु, अर्थालंकारों का योगदान उनमें सबसे अधिक है। इनमें भी सूर ने साम्यमूलक अर्थालंकारों के विशेष प्रयोग किए हैं। कवि ने ऐसे अप्रस्तुतों के माध्यम से प्रस्तुत के अनुरूप कहीं उसके रूप, कहीं उसके धर्म और कहीं उसके प्रभाव को अनुभवगम्य बनाने का सफल प्रयास किया है। सादृश्यमूलक अलंकारों में सूर को उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा विशेष प्रिय हैं। उत्प्रेक्षा तथा रूपक के तो वे बादशाह कहे जाते हैं। कवि ने अपने मनोभावों की अधिकाधिक अभिव्यक्ति के लिए उत्प्रेक्षा का सहारा लिया है। उसके काव्य की अलंकृत वृत्ति की यह भी एक बड़ी पहचान है कि किसी एक ही मनोभाव को प्रकट करने के लिए वह विविध अलंकारों का व्यवहारकर तरह-तरह से उसका अंकन करते हुए अपनी गम्भीर सौन्दर्य-चेतना की अभिव्यक्ति करता है।

सूर उत्प्रेक्षा के सारस्वत और सिद्ध कवि हैं। नई-नई उत्प्रेक्षाएँ प्रस्तुत करने में उन्हें बेजोड़ कमाल हासिल है। कवि की सान्द्र-स्निग्ध सौन्दर्यानुभूति का सर्वोत्तम उत्प्रेक्षा के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। यहाँ अवकाश-संकोच से उत्प्रेक्षा का एक ही ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे न केवल कवि के पराकाष्ठा के वाग्वैदग्ध्य का ही परिचय मिलता है प्रत्युत एक ही कथ्य को विभिन्न अलंकारों के माध्यम से चित्रित करने की भी पुष्टि होती है। वर्ण्य है कृष्ण के अधरों की अरुणिमा, जिसके अभीष्ट आलंकारिक चित्रण के लिए कवि की कल्पना प्रमुखतः उत्प्रेक्षा के साथ रूपक, उपमा, सन्देह, प्रतीप, व्यतिरेक तथा अतिशयोक्ति अलंकारों के पंख लगाकर बड़ी सरस और ऊँची उड़ान भरती है :

**देखि सखी अधरनि की लाली।**
**मनि मरकत तैं सुभग कलेवर, ऐसे हैं बनमाली।।**
**मनौ प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास।**
**ज्यौं दामिनी बिच चमकि रहत है, फहरत पीत सुबास।।**

इस पद की पंक्तियों में अधरों की लालिमा के मनोज्ञ और व्यवस्थित चित्रण के लिए पहले कवि पृष्ठभूमिरूप में मरकत मणिवत् कृष्ण-शरीर, उनकी अरुणाभ मुखश्री और मेघों के मध्य चमकनेवाली संपा-सदृश उनके स्फुरणशील पीताम्बर-शोभा का वर्णन करता है। कहना न होगा कि यहाँ कृष्ण की अरुणारी मुखश्री को उद्घाटित करने के लिए कवि ने जिस अप्रस्तुत का चयन किया है वह अत्यन्त अपूर्व और विलक्षण है— कृष्ण की सम्पूर्ण शरीर-यष्टि का वर्ण जैसे प्रत्यूषकालीन साँवली घटा हो और उसमें उनकी अरुणारी मुखश्री जैसे उस श्याम घटा पर छायी अरुणोदय की लालिमा। कामायनी के महाकवि प्रसाद ने भी ठीक इसी अप्रस्तुत का उपयोग करते हुए श्रद्धा की मुख-छवि का चित्रण यों किया है :

**आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम-**
**बीच जब घिरते हों घन श्याम;**

**अरुण रवि-मण्डल उनको भेद,**
**दिखाई देता हो छबिधाम।**

दोनों महाकवियों की इस अप्रस्तुत-योजना में धर्मगत कोई खास अन्तर न होते हुए भी कालगत विभिन्नता है अवश्य। एक के अप्रस्तुत की लालिमा अरुणोदयकालीन (पूर्व के) मेघों के साथ की है तो दूसरे की पश्चिम-व्योम (शायद सूर्यास्त-काल) घन के मध्य की। इनमें पूर्व-पश्चिम या प्रातः-सन्ध्या समय के श्याम घन और उसके संसर्ग की अरुणिमा से उत्पन्न सौन्दर्य में संवेदना की दृष्टि से कुछ अन्तर किया जा सकता है, जिसके लिए यहाँ अवकाश नहीं है। जब तक सूर का अनुशीलन नहीं किया था तब तक प्रसाद का यह अप्रस्तुत नितान्त अस्पृष्ट और मौलिक जान पड़ता था।

अब सूर के उपर्युक्त पद का शेषांश देखें, जिसमें उत्प्रेक्षा के साथ अन्य अनेक अलंकारों के सहारे अधरों की लालिमा का अत्यन्त उदात्त और काव्योत्कर्षपूर्ण वर्णन किया गया है :

**कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि, जुग फल बिम्ब सुपाके।**
**नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ, लेत बनत नहीं ताके।।**
**हँसत दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाइ।**
**मनौ नीलमनि-पुट मुकुता-गन, बन्दन भरि बगराइ।।**
**किधौं बज्र-कन, लाल नगनि खँचि, तापर विद्रुम पाँति।**
**किधौं सुभग बन्धूक-कुसुम-तर,झलकत जल-कन-काँति।।**
**किधौं अरुन अम्बुज बिच बैठी, सुन्दरताई जाइ।**
**सूर अरुन अधरनि की सोभा, बरनत बरनि न जाइ।।**

सूर ने अपनी रचनाओं में रूपक अलंकार के विशिष्ट प्रयोग किये हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों में सांगरूपक का सर्वाधिक प्रयोग कर कवि ने अपनी उत्कृष्ट भावुकता और सहृदयता का प्रकृष्ट परिचय दिया है। विनय के पदों, अनुराग-लीलाओं, नयनविषयक पदों, विरहानुभूति के पदों तथा भ्रमरगीत में इस अलंकार के उत्तमोत्तम उदाहरण मिलते हैं। प्रस्तुत की जा रही हैं कुछ पदों की ऐसी टेक-पंक्तियाँ जिनके पूरे अंश (पद) में इस (अलंकार) के मनोज्ञ प्रयोग देखे जा सकते हैं—**माधौ, नैकु हटकौ गाइ। देखियति कालिन्दी अति कारी। प्रीति करि दीन्ही गरै छुरी। आयौ घोष बड़ौ ब्यौपारी।**

इसी प्रकार, कवि ने रूपकातिशयोक्ति अलंकार का भी प्रचुर प्रयोग किया है। इसमें केवल अप्रस्तुत कथन के माध्यम से प्रस्तुत का चित्रण किया जाता है। सूर के ऐसे प्रयोग उनकी सौन्दर्यानुभूति और सहृदयता की अच्छी बानगी प्रस्तुत करते हैं। दृष्टकूट-शैली के पदों में इसके विशेष प्रयोग देखे जा सकते हैं। प्रेम-लीला, बाल-लीला, मुरली-प्रसंग, दान-लीला आदि प्रकरणों में भी रूपकातिशयोक्ति के प्रयोग बखूबी मिलते हैं। **अद्‌भुत एक अनूपम बाग** की टेक से आरम्भ होनेवाला पद इस

अलंकार के उत्कृष्ट उदाहरणों में से एक है, जिसमें राधा के नख-शिख पर्यन्त शरीरांगों का चित्रण मात्र वाटिका के उपादान-अप्रस्तुतों के आश्रय से ही किया गया है। इस प्रकार, सूर की रचनाओं में रूपक के नाना रूपों के मनोरम प्रयोग मिलते हैं।

सूर के उपमालंकार के प्रचुर प्रयोगों को देखते हुए कहा जा सकता है कि उन्होंने इसकी नानाविध योजनाओं से मानवीय सौन्दर्य की अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। उनके उपमानों की ताजगी प्रभावित अवश्य करती है। सूरसागर को ऐसे उपमानों का अक्षय भण्डार कहा जा सकता है। बानगी के दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

(क) **हमारे हरि हारिल की लकरी।**

(ख) **हरिदरसन की साध मुई।**

**उड़ियै उड़ी फिरति नैनन सँग, फर फूटैं ज्यौं आक रुई।।**

यहाँ तक कवि के उन्हीं अलंकार-प्रयोगों की बात की गयी है, जिनका व्यवहार उसने अपनी रचनाओं में बहुधा किया है। इनके अतिरिक्त, अतिशयोक्ति, अपह्नुति, अनन्वय, प्रतीप, व्यतिरेक, विभावना, उल्लेख, विरोधाभास आदि बहुत से अलंकारों के राशि-राशि प्रयोग कवि की रचनाओं में पाये जाते हैं।

निचोड़ यह कि सूर का अलंकार-विधान उनकी भावप्रवणता या काव्योत्कर्ष का साधक बनकर आया है। रचना में नाद-सौन्दर्य या ध्वन्यात्मक संसृष्टि हेतु अनुप्रास के प्रचुर प्रयोग किए गए हैं। कवि के संगीत ने उसके भावों को सँवारने-निखारने का काम किया है। सूर ने अपनी अप्रस्तुत-योजना से अपने सूक्ष्म कथ्य को विशदता और प्रभविष्णुता प्रदान करने की सफल और सार्थक कोशिश की है। ऐसा होते हुए भी कहीं-कहीं **'मानो'** आदि अलंकारवाची पदों की प्रायशः प्रयुक्ति नीरसता की सीमा छू लेती है। हर्ष की बात है कि ऐसी रचनाओं की संख्या अपेक्षाकृत थोड़ी है। अलंकारों के सुष्ठु प्रयोग की दृष्टि से वे स्थल भी अप्रकृत और असंगत कहे जायेंगे जहाँ कवि ने ऊहात्मक कथनों के सहारे दूर की कौड़ी लाने का प्रयास किया है, जैसे— **कर धनु लै किन चन्दहि मारि,** आदि। हाँ, उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों के बहुल प्रयोगों से कवि ने अपनी गम्भीर सौन्दर्यानुभूति और रम्य काव्य-सर्जन-चेतना का सम्यक् परिचय दिया है।

# भ्रमरगीत

सूर का भ्रमर-गीत उनके शृंगार-काव्य का मौलि-मणि है। किसी प्राणप्रिय के प्रवासी हो जाने पर उसके परम प्रेमियों को विरह-वेदना की रंग-बिरंगी और मार्मिक मनोदशाओं से होकर गुज़रना पड़ता है और ऐसी दशा में प्रिय के प्रति उनमें गिले-शिकवे की कैसी-कैसी सूक्ष्म भाव-स्थितियाँ हिलोरें लेने लगती हैं, इनका जैसा अनूठा हृदयावर्जक और शब्दवेधी चित्रण सूर ने अपनी बंद आँखों से किया है वैसा संसार का कोई अन्य 'दिठियारा' (दृष्टिवंत) कवि भी नहीं कर सका है। भँवर या भ्रमर, हमेशा से, अपनी पुष्प-रस-लोलुप स्वार्थ-दृष्टि के लिए 'बदनाम' रहा है। इसलिए, भक्ति-काव्य के संदर्भ में, भ्रमरगीत गीतों के ऐसे संकलन को कहा जायेगा, जिसमें गोपियों ने भ्रमर के माध्यम से अपने कृष्ण-विषयक प्रेम के प्रति उद्धव को उलाहना दिया है। काव्य-रूप की दृष्टि से हम 'भ्रमरगीत' को दूत-काव्य या संदेश-काव्य कह सकते हैं। किन्तु, इस संदर्भ में गौर करने की बात यह है कि इसमें एक नहीं, दो-भ्रमर और उद्धव-संदेशवाहक माने गये हैं। इसके विपरीत संस्कृत और हिन्दी संदेश-काव्यों में प्रायः एक ही संदेश-वाहक से काम लिया गया हैं; जायसी का मुख्य संदेशी तो हीरामन 'सुआ' ही है, भौंरा और काग तो आकस्मिक स्थिति के संदेशी हैं। इसलिए, एक ही काव्य में डबल संदेशवाहकों की यह प्रतिष्ठा, ऐसे काव्य की एक और विशेषता मानी जायेगी। यद्यपि संदेश को आर-पार तक पहुँचाने में समर्थ होने के कारण उद्धव को ही सही संदेशी माना जाना चाहिए तथापि भ्रमरगीत के नामकरण में, शायद, भ्रमर की भूमिका को अहम मानकर उसी को प्रधान संदेशवाहक का दर्जा दिया गया है।

भ्रमरगीत-काव्य के कथ्य को देखते हुए उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मात्र प्रेम-विरह के ही शब्द-चित्र नहीं मिलते हैं, वरन् उसका अधिकांश कृष्ण-प्रेम-विषयक् गोपियों के उपालंभों और व्यंग्य-वचनों से आपूरित है। इस विशिष्टता के आधार पर समीक्षकों ने इसे सर्वश्रेष्ठ उपालंभ काव्य की संज्ञा दी है। ऐसी दशा में इसे दूत-काव्य माना जाए या उपालम्भ काव्य ? बात यह है कि वे उद्धव जो मथुरा से ज्ञान, योग तथा निर्गुण ब्रह्म का संदेश लेकर गोकुल आते हैं, वही पुनः वहाँ से प्रेम लक्षणा भक्ति तथा सगुण ईश्वर की दीक्षा लेकर मथुरा वापस हो जाते हैं। इसलिए, भ्रमरगीत प्रकरण को संदेश-काव्य और उपालंभ-काव्य का मिश्रितरूप कहा जा सकता है।

उपालंभ-काव्य किसे कहते हैं ? इसकी व्यापक, स्वतंत्र और हिन्दी भक्ति काव्य की गीति-परंपरा के अन्तर्गत उपलब्ध उसके स्वरूप की चर्चा करते हुए **डॉ. रघुवंश** ने लिखा है **"उपालंभ उलाहना मात्र नहीं है, उसमें न वास्तविक शिकायत रहती है और न प्रेम-पात्र की निन्दा, यद्यपि इस काव्याभिव्यक्ति में आभासित यही होता हैं। इसका आधार गहरी आत्मीयता और प्रेम होता है। प्रेमी अपने प्रेम-पात्र से**

**अलग होकर विकल और विह्वल हो जाता है। उसकी मिलन की उत्कंठा तीव्र होकर उसे व्यथितकर देती है। पर भावावेग में भी उसके मन में प्रेम की अनुभूति अधिक गहरी होती है। ऐसी ही मनः स्थिति में प्रिय किसी सहृदय सहचर या सहचरी को माध्यम बनाकर अपने प्रेमी को उपालंभ देता है। इस बहाने प्रेम-पात्र की चर्चा के पक्ष सामने आते हैं, प्रेम का आवेग आश्रय पाकर विविध रूपों में प्रकट होता है। इस सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की केन्द्रीय भावना रहती है मिलन की आशा-अभिलाषा।"**[1] इतना ही नहीं, ऐसे काव्य में प्रेमी प्रिय के द्वारा किये गये उन समग्र संयोगकालीन प्रेमाचारों को उसके निष्ठुर और निर्दय कदाचार के रूप में याद करता है। प्रेमी प्रिय को अपनी विरह-व्यथा का एकमात्र दोषी करार देकर उससे मिलने की अभिलाषा भी रखता है। इसमें प्रीति-भाव की इतनी अधिक साहचर्यजन्य प्रगाढ़ता मिलती है, जिससे विलग (जुदा) होने की बात कभी सोची तक नहीं जा सकती है। वास्तव में संप्रदाय-समर्थित होते हुए भी सूर की प्रेम-पद्धति अपने रूप-स्वरूप की दृष्टि से अत्यंत स्वच्छंद और गहरी ठहरती है, जो हिन्दी के धुरंधर आचार्य शुक्ल को तुलसी के सीता-राम के मर्यादाचारी प्रेमादर्श का पूर्वाग्रही होने के कारण रास नहीं आई। गोपियों ने जिन शब्दों में अपनी साहचर्यजनित परमप्रीति की शिकायतें पेश की हैं, उनमें आचार्य शुक्ल "अनुराग की कमी" देखते हुए लिखते हैं- **"कृष्ण यद्यपि गोपियों को भूले नहीं हैं, उद्धव के मुख से उनका वृत्तांत सुनकर वे आँखों में आँसू भर लाते हैं, पर गोपियों ने जैसा वेदनापूर्ण उपालंभ दिया है, उससे अनुराग की कमी ही व्यंजित होती है।"**[2] उपर्युक्त उपालंभ काव्य के स्वरूप की गहनतम प्रीति-दशा को देखते हुए मान्य आचार्य के इस कथन को संगत नहीं माना जा सकता।

भ्रमरगीत का वस्तु-वृत्त आद्यंत भाव-प्रवण है। इसकी प्रमुख घटनाएँ दो ही हैं-पहली उद्धव का ब्रजागमन और दूसरी, उद्धव का ब्रज से मथुरा लौटना। इसी प्रकार, इस प्रसंग के चार प्रमुख पात्र हैं-कृष्ण, उद्धव, कुब्जा और गोपियाँ। भ्रमर को भी हम मानवेतर पात्र मान सकते हैं। भ्रमरगीत के कथ्य की शुरुआत मथुरावासी कृष्ण की वृंदावन-विषयक् विगत जीवन की भावविभोर-विकलता से होती है और अन्त, उद्धव के उस हृदयवेधी परिवर्तन के गंभीर चित्रण से होता है, जिसमें वे गोपियों से प्रेम लक्षणा भक्ति का पाठ पढ़कर मथुरा लौटते हैं और कृष्ण से विरहिणी गोपियों की मनोदशाओं का अत्यंत मर्मस्पर्शी उल्लेख करते हैं। कथा-वस्तु क्रमबद्ध, व्यवस्थित और मनोशास्त्र-संमत होने के साथ ही बौद्धिक तर्कों का भी स्वाभाविक रेखांकन करती है।

कृष्ण के मथुरा जाने के बाद सारा ब्रज बेहाल हो गया। कृष्ण ने वहाँ जाकर न केवल कंस को ही मारा और अपने माता-पिता का भी उद्धार किया। इसी बीच कंस

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 2, पृ. 178, संस्क., सं. 2020
2. सूरदास, पृ. 100, संस्क. सं. 2050

की दासी कुबरी की सेवा पर रीझकर उसे अपनी ऐसी प्रणयिनी बनाया, जिसके लिए विरहिणी ब्रजांगनाओं ने उन्हें कभी माफ नहीं किया। अनेक कारणों से जब कृष्ण निर्धारित अवधि के बहुत दिनों बाद तक वापस नहीं हुए तो नंद, यशोदा, गोपी, ग्वाल आदि सारे ब्रजवासी बहुत अधिक व्यथित हुए। इधर उनसे अलग-थलग पड़कर कृष्ण भी कम दुःखी न थे। विरही ब्रजवासियों के संदेशों से तब तक मधुवन (मथुरा) के कुएँ तक भर गये थे। इन तमाम बातों को लेकर खिन्नमना कृष्ण किसी के हाथ अपनी ओर से संदेश भेजना ही चाहते थे कि उनका ध्यान अपने अंतरंग सखा उद्धव की ओर गया। वे निर्गुण ब्रह्म के कायल, ज्ञान तथा योग के हमराही थे। कृष्ण जब कभी उनके सामने ब्रजवासियों के प्रेम और भक्ति की चर्चा करते तो वे उसे हँसकर इसलिए टाल जाते, क्योंकि उन्हें अपने ज्ञान का बड़ा गर्व भी था, जो कृष्ण को एकदम नापसंद था। अपने अनन्य सखा उद्धव को संदेशवाहक के रूप में गोकुल भेजकर कृष्ण ने दोहरे उद्देश्य की सिद्धि की-एक गोपियों को प्रबोध देने और दूसरा, उन (गोपियों) के निगूढ़ और तन्मय प्रेम से प्रभावित हो उद्धव के ज्ञान-गर्व के खर्वित होने की बात। एक पूरे पद में कृष्ण द्वारा उद्धव को ब्रज भेजने के इस उद्देश्य का उल्लेख यों किया गया है :

**जदुपति जानि उद्धव रीति।**
**जिहि प्रगट निज सखा कहियत, करत भाव अनीति।।**
**बिरह दुख जहँ नाहिं नैकहुँ, तहँ न उपजै प्रेम।**
**रेख, रूप न बरन जाकैं, इहि धरयौ वह नेम।।**
**त्रिगुन तन करि लखत हमकौं, ब्रह्म मानत और।**
**बिना गुन क्यौं पुहुमि उधरै, यह करत मन डौर।**
**बिरस रस किहिं मंत्र कहिऐ, क्यौं चलै संसार।**
**कछु कहत यह एक प्रगटत, अति भर्‌यौ अहँकार।।**
**प्रेम भजन न नैंकु याकैं, जाइ क्यौं समुझाइ।**
**सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहिं देउँ पठाइ।।"**

उद्धव गये थे ज्ञान का पाठ पढ़ाने और पाठ पढ़कर आये प्रेम और भक्ति का।

सूर के समय में ज्ञान और योग की चर्चा जोरों से चल रही थी। इसलिये, सूर ने जानकर सगुण-निर्गुण की समस्या भ्रमरगीत के कथ्य के माध्यम से उठाई। दार्शनिक दृष्टि से जैसे रामानन्द और आचार्य वल्लभ अद्वैतवाद का विरोध कर रहे थे, वैसे ही सूर और तुलसी दोनों अद्वैत से प्रेरित तथा प्रभावित सिद्धों, नाथों, कबीर-पंथियों तथा सूफियों के योग एवं ज्ञान के प्रभाव को दूर करना चाहते थे। उस समय वैष्णव भक्ति-आन्दोलन भी चल रहा था, जिससे प्रेरणा लेकर तुलसी ने 'मानस' के उत्तरकाण्ड में ज्ञान और भक्ति की तुलनात्मक चर्चा करते हुए जैसे भक्ति को श्रेष्ठ माना वैसे ही भ्रमरगीत में सूर ने ज्ञान के मुकाबले प्रेम और भक्ति को प्रतिष्ठित किया।

जिस समय उद्धव गोपियों को कृष्ण के ज्ञान-योग का संदेश दे रहे थे, उस समय इत्तफ़ाक से एक भौंरा उड़ता हुआ वहाँ आकर गुनगुनाने लगा :

**इहि अन्तर मधुकर इक आयौ।**
**निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै, सुन्दर सब्द सुनायौ।।**
**पूछन लगी ताहि गोपिका, कुबिजा तोहि पठायौ।**
**कीधौं सूर स्याम सुन्दर कै, हमैं सँदेसौं लायौ ।।**

फिर तो गोपियों के विरह-विदग्ध हृदयों से निकलती हुई वे जली-कटी तथा कठिन-कठोर बातें, जिन्हें उद्धव से सीधे कहना अशिष्टता होती, प्रत्यक्षतः भ्रमर को सम्बोधित कर कही गई हैं। ऐसा करने से उनके दुःख-दर्द के भाव भी सामने आ गये और व्यवहार्यशील की रक्षा भी हो गयी। भ्रमर के आश्रय से व्यक्त बातों को प्रधान मानकर इस प्रकरण को 'भ्रमरगीत' नाम दिया गया है। वास्तव में, गोपियों ने भ्रमर के व्याज से अपनी करारी चोटों से उद्धव को निरुत्तर कर उन्हें प्रेम-भक्ति का पाठ पढ़ाया। बात यह है कि भ्रमर, कृष्ण और उद्धव में अनेक दृष्टियों से परस्पर सादृश्य-सम्बन्ध पाया जाता है। इस कारण, उद्धव और भ्रमर में से किसी एक को संलक्षितकर कथित उक्तियाँ शेष दोनों अनुपस्थित पक्षों पर भी प्रायः समानरूप से घटित प्रतीत होती हैं, यद्यपि कृष्ण समक्ष नहीं हैं तो भी। भ्रमर और कृष्ण दोनों श्याम रंगवाले हैं। दोनों मधुर और मनोहर ध्वनियों-मुरली-नाद तथा भ्रमर- गुंजर-के धनी हैं। दोनों पीत वस्त्र-कृष्ण-पीताम्बर तथा भ्रमर-पीत-रेखा-धारी हैं। भ्रमर और कृष्ण दोनों की आदत है कलियों-अप्राप्त यौवना का रस चखकर सटक जाना। और इधर उद्धव और कृष्ण भी रूप, रंग, वय, वेश आदि में समतुल्य हैं। इसलिये, तीनों-भ्रमर, उद्धव और कृष्ण-परस्पर एक ही गतिविधि के प्राणी ठहरते हैं। कार्यशील स्थिति की दृष्टि से भी भ्रमर और उद्धव में समता पाई जाती है। महिलायें ऐसा मानती हैं कि कोई भौंरा यदि किसी विरहिणी के पास आकर गुंजार करने लगता है तो मानों वह उसके प्रियतम का प्रेम-संदेश सुनाता है। भ्रमररूप उद्धव भी गोपियों के प्राणवल्लभ कृष्ण के ऐसे ही संदेशी हैं। कहना न होगा कि कवि की चेतना में उक्त तीनों पात्रों की यह संश्लिष्ट और साधर्म्य योजना बराबर बरकरार रहती है, जिसकी कवि ने कहीं-कहीं बड़ी स्पष्ट अभिव्यक्ति की है। प्रस्तुत है एक ऐसा ही उदाहरण, जिसमें भ्रमर और कृष्ण के बहिरंतर की करनी-करतूतों की सम स्थिति पर सुचिंतित प्रकाश डाला गया है :

**भूलति हौ कत मीठी बातनि।**
**ए तौ अलि उनही के संगी, चंचल चित्त साँवरे गातनि।।**
**वै मुरली धुनि जग मन मोहन, इनकी गुंज सुमन मधु पातनि।**
**ए षट्पद, वै द्विपद चतुर्भुज, काहू भाँति भेद नहिं भ्रातनि।।**
**वे नव निसि मानिनिगृह बासी, एउ बसत निसि नव जल जातनि।**
**वे उठि प्रात अनत मन रंजत, ये उड़ि करत अनत रस रातनि।।**

**स्वारथ निपुन सद्य रस भोगी, जनि पतियाहु बिरह-दुख-दातनि।**
**वे माधौ ए मधुप सूर कहि, दुहुँ मैं नाहिन कोउ घटि घातनि।।**

मैंने अभी भ्रमर, उद्धव और कृष्ण की समरूप स्थितियों का जो उल्लेख किया, उनका आधार बड़ा स्थूल है। इस पद में भ्रमर और कृष्ण की बराबर की स्थितियों का अंकन बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। संक्षेप में, इस पद के भावार्थ से परिचित हो लें तो प्रसन्नता होगी।

एक गोपी अपनी दूसरी सखी गोपी से बात करती कहती है- हे सखी ! इस भ्रमर की मीठी बातों के भुलावे में मत पड़ो। यह तो उन्हीं (कृष्ण) के साथ का सतत सेवन करनेवाला साथी (संगी) है। दोनों शरीर से मात्र साँवले ही नहीं, चित्त के बड़े चंचल (सर्वदा एक-सी स्थिति में न रहने वाले व्यभिचारी) भी हैं। एक तो अपनी मुरली की मधुर ध्वनि से सारे संसार को सम्मोहित करता है और दूसरा अपनी मोहक गुंजार से पुष्प-पत्तियों और मकरंद को मोहित करता है। एक छः पैरों वाला है तो दूसरा भी ऐसा-(दो पैर और चार भुजाओं को एकत्रकर) ही है। इस तरह, ये दोनों अपने समरूप लक्षणों से भाई-भाई मालूम पड़ते हैं, जिनमें किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है। एक अपनी रात नवेली मानिनी के घर रहकर बिताता है तो दूसरा, नये कमल-कोश में निवासकर। एक प्रातः उठकर अन्यत्र जा अपना मनोरंजन करता है तो दूसरा भी उड़कर अन्यत्र जा रस-रास रचाता है। इस तरह, ये दोनों चालाक स्वार्थ-साधक और नव्य रस-पान (भोग) करनेवाले तथा विरह-दुःख देनेवाले हैं, इसलिए, इन पर भरोसा (विश्वास) मत करो। और कहाँ तक कहा जाये, ये तो नाम के भी एक हैं- एक माधव और दूसरा मधुप। चोट (घात) करने में भी दोनों एक-दूसरे से कतई घटकर नहीं। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की भ्रमरगीत की काव्य चेतना कितनी संश्लिष्ट, मर्मस्पर्शिणी और मनोज्ञ भावों के सूक्ष्म अन्तर-पटों का उन्मीलन करनेवाली है। आचार्य शुक्ल ने ऐसे प्रकरणों को दृष्टि में रखकर ही सूर की नवीन प्रसंगोद्भावना की बड़ी सराहना की है।

एक ऐसा ही दूसरा उदाहरण देखें, जिसमें काले रंग को लेकर प्रत्यक्षतः तीन- उद्धव, अक्रूर और भ्रमर- और अप्रत्यक्षतः एक और-कृष्ण को भीतर-बाहर कालिमामय दिखाया गया है :

**बिलग जनि मानौ ऊधौ कारे।**
**वह मथुरा काजर की ओबरि, जे आवैं ते कारे।**
**तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे कुटिल भँवारे।।**

गोपियाँ कहती हैं- हे उद्धव ! कृष्ण-प्रेम में मेरे साथ जो दुर्घट घटित हो रहा है, उसमें आपका उतना दोष नहीं है; आप तो उसके साधनभूत कारण मात्र हैं। इसलिये, हमारे कहे-सुने का आप अन्यथा भाव से ग्रहण न करें। वैसे तो इसका प्रमुख कारण मथुरा नाम के उस स्थान का दोष है, जहाँ कृष्ण का कृष्ण वर्ण ऐसा कालिमा

कोठार (ओबरि) सिद्ध हो रहा है कि वहाँ से आप और आप जैसे जितने और आते हैं, वे सभी उस कालिमा (कलुष-भाव) में नहाये हुए। इसलिए, इस प्रमुख स्थल-दोष का भी मूल कारण 'कारे' कृष्ण हैं, आप नहीं। कृष्ण ने हमें विरह-देने की कालिमा (कल्मषता) से वहाँ से आने वाले प्रत्येक को सराबोर कर रखा है। कृष्ण ने स्वयं जो किया और कर रहे हैं, वह तो सर्वविदित है ही; वहाँ से जो भी आता है, हमें सताने ही आता है (इसलिए, मधुवन से आये सभी लोग गोपियों को कालिमामय प्रतीत होते हैं)। प्रायः इसके प्रत्येक शब्द और वाक्य में लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के इतने लच्छे उलझे पड़े हैं कि उन्हें आसानी से विलगकर पाना काफी मुश्किल है। सच्चाई तो यह है कि यदि हम भ्रमरगीत-काव्य के अभ्यन्तर का पर्यालोचन करें तो पायेंगे कि प्रायः प्रत्येक पद (छंद) के विशेषतः तीन प्रकार के अर्थ दिखाई देते हैं-भ्रमरपरक, उद्धवपरक और कृष्णपरक। किन्तु, वर्तमान काल प्रयत्नलाघव और संक्षेपण का काल है, इसलिए, काल-विमुख हो ऐसे अर्थ-मोतियों को ग्रहण कराने का गोताखोर कौन बने ? उसकी इन्हीं विलक्षण विशिष्टताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि भ्रमरगीत हिन्दी का एक ऐसा अनूठा काव्यांश है, जिसके जोड़ की दूसरी काव्य-रचना अन्यत्र कहीं भी नहीं देखी जाती। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने इस काव्यांश को कवि का सर्वश्रेष्ठ प्रदेय मानकर तत्सम्बन्धी पदों का "भ्रमरगीत-सार" नाम से सार-संचयन किया है और भूमिकारूप में उनकी विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए एक गम्भीर समीक्षा भी लिखी, जिसका महत्त्व आज भी कम नहीं हैं। बाद में, यह समीक्षा 'सूरदास' में समाहृतकर ली गयी है।

हिन्दी 'भ्रमरगीत' का आदि स्रोत भागवत पूर्वार्द्ध के दशम स्कन्ध का वह सैंतालीसवाँ अध्याय है, जिसके बारहवें से लेकर इक्कीसवें श्लोक तक यह प्रकरण अत्यन्त उत्कृष्टता के साथ वर्णित हुआ है। संक्षिप्त होते हुए भी भागवत के भ्रमरगीत में उसके सभी पक्षों के बीज-भाव मिल जाते हैं। भागवत और सूर के 'भ्रमरगीत' में कई महत्त्व के अन्तर पाये जाते हैं। उदाहरण के लिये, भागवत में उद्धव द्वारा ज्ञान-योग के संदेश की बात नहीं की गई है, जबकि सूर के उद्धव गोपियों को ज्ञानयोग और निर्गुणोपासना का ही उपदेशासव पिलाते हैं। यह बात और है कि प्रीति की पराकाष्ठा तक पहुँची गोपियों ने कृष्ण के प्रति अपने प्रेम-भाव का ऐसा अनन्य, गहरा और प्रगाढ़ परिचय दिया, जिसे देखकर उद्धव इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनके समक्ष उस प्रीति (सगुण-भक्ति) को सहर्ष स्वीकार के सिवा और कोई विकल्प न रहा। सूर ने अपने भ्रमरगीत में गोपियों की रूपासक्ति, तन्मयतासक्ति और विरहासक्ति के ऐसे-ऐसे रमणीय चित्र अंकित किए हैं, जिनसे अवगत होकर किसी भी सच्चे सहृदय का हृदय प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। भागवत की गोपियाँ कृष्ण-संदेश का सूर की गोपियों की भाँति विरोध नहीं करती हैं। जहाँ भागवत की गोपियों की विरह-व्याधि कृष्ण-संदेश को पाकर शान्त हो जाती हैं, वहाँ सूर की गोपियों का विरहावेग उससे और भड़क उठता है। सूर के उद्धव अपनी ओर से ज्ञानयोग का उपदेश देकर उन

(गोपियों) की भक्ति का खण्डन करते हैं और अन्त में, गोपियों से प्रेम-भक्ति का पाठ पढ़कर वापस हो जाते हैं। इस प्रसंग की एक खास बात यह भी है कि सूर की गोपियाँ निर्गुण का प्रतिरोध तो अवश्य करती हैं, पर तत्त्वतः वे उसका खण्डन शायद इसलिए नहीं करती, क्योंकि राजमार्ग-जैसे प्रशस्त और निरापद भक्तिमार्ग में ज्ञान और कर्म-मार्ग के तत्त्व पहले से ही अन्तर्भूत होते हैं। उद्धव का ज्ञानोपदेश चूँकि भक्ति-विरोधी था, इसलिए, गोपियों के माध्यम से सूर ने उसके प्रति विरोधभाव दिखाया। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि सूर भक्ति-संमत ज्ञान के नहीं, भक्ति-विरोधी ज्ञान के प्रतिरोधी थे-**भक्ति-बिरोधी ज्ञान तिहारौ।** लोक-संग्रह के आग्रह से ही कवि ने ऐसा किया है। इस सगुण भक्ति-चेतना के दम पर ही हमारी तत्कालीन अस्मिता बँची रही, विलीन होते-होते उबर आई। यह पहले कहा जा चुका है कि राधा–नाम के किसी व्यक्ति का कोई उल्लेख भागवत में नहीं हुआ है, किन्तु सूर ने कृष्ण के साथ राधा का वर्णन प्रायः सर्वत्र किया है।

उद्धव कृष्ण का संदेश लाये थे और पत्र भी। इसके अतिरिक्त, वसुदेव और कुब्जा के दो पत्र वे और भी लाये थे। गौर करने पर भ्रमरगीत के दो पहलू नजर आते हैं- एक, प्रधानतः विप्रलंभ शृंगार का चित्रण और दूसरा, ज्ञान-योग तथा निर्गुणोपासना का शुद्ध काव्य-पद्धति पर इनकार। इसके पूर्व यह कहा जा चुका है कि सूर की गोपियों ने उद्धव-उपदेश के विषय में जितनी और जितने तरह की बाते की हैं, वे सभी उनके भावावेग पर ही आधृत रही हैं। कवि ने विप्रलम्भ शृंगार के अनन्य अनुराग की नाना अन्तर्वृत्तियों का जैसा प्रबल और पिच्छल प्रवाह भ्रमरगीत के माध्यम से प्रवाहित किया है, उसे देखकर ऐसा लगता है कि जैसे उसने अपने हृदय के समग्र मधुकोश को ही लुटा दिया हो। इतना ही नहीं, विरह-विच्छेद की पृष्ठभूमि पर सगुण-निर्गुण की चर्चाकर न केवल उनकी सुगम-अगम स्थितियों पर ही प्रकाश डाला गया है वरन् ज्ञान तथा योग से भक्ति के विलगाव की अच्छी पहचान भी करायी गयी है।

मंजिष्ठा राग की कोटि तक पहुँची गोपियों की कृष्ण-विषयक् अनुराग-दशा में अब अन्य किसी के लिए भी कतई कोई स्थान नहीं रह गया था। इसलिये, वे उद्धव द्वारा उपदिष्ट का जवाब देती/कहती हैं– **"कहो मधुप कैसे समायगें एक म्यान दो खाँडे"** या इसी को बदलकर यों भी कहा गया है– **नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और।"** गोपियाँ मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण की कायल होने के कारण उद्धव से यह पूछकर उन्हें निरुत्तर करती कहती हैं :–

**रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमें बतावत।**
**अपनी कहौ, दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत ?**

बेचारे उद्धव, इसका क्या और कैसे उत्तर देते ? वे ऐसे अनेक प्रकार के प्रश्नों की झड़ी लगाती ही गयीं-**"निर्गुन कौन देस कौ बासी।"** अन्त में, उद्धव ऐसे सवालों को सुनकर मौन हो ठगे से रह गये–**"मौन ह्वै रह्यौ ठगौ सो सूर सबै मति नासी।"**

गोपियाँ उद्धव के उस निर्गुण-निराकार का प्रतिरोध करती कहती हैं– "यदि कृष्ण निर्गुणरूप में हमारे हृदय में होते तो हमारी इतनी विरह-व्यथा को कतई न सहनकर पाते–**"उर से निकस क्यौं न करत सीतल जो पै कान्ह यहाँ है।"** गोपियाँ मात्र सगुण-साकार कृष्ण की ही उपासिका थीं, उनके किसी अन्य विकल्प की कतई नहीं :-

**द्वै लोचन दो बिरद किए स्रुति गावत एक समान।**
**भेद चकोर कियौ तिनहूँ मैं बिधु प्रीतम, रिपु भान।।**

व्यंजना यह कि चकोर जब सूर्य-चन्द्र में भेद करता है तो गोपियाँ तो ऐसा करेंगी ही, क्योंकि वे विशिष्ट चेतना से सम्पन्न हैं। गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपनी अटल अनुराग-निष्ठा पर घमंड करती थीं। मीन को वे अपने इस दृढ़ानुराग का प्रतीक मानकर कहती हैं–

**दादुर जल बिनु जियै पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान।**

कहना न होगा कि कवि ने यहाँ दादुर के व्याज से उद्धव पर जो फबती कसी है, वह बड़ी चुटीली है। मेढ़क और मीन दोनों का जीवन जलाधारित होता है। लेकिन जलरहित मेढ़क वायु भक्षण कर जीवित रह जाता है, परन्तु इसके विपरीत, मीन अपने अनन्य प्रेम के कारण प्रिय (जल) विहीन होते ही अपने प्राणों को विसर्जित कर देता है। यहाँ मेढक के वायु खाने के बहाने योंगी के प्राणायाम तथा उसकी टर्र-टर्र करने की समता में उद्धव-उपदेश को रखकर अत्यन्त सूक्ष्म व्यंग्यपरक संकेत किये गये हैं। कृष्ण-भक्ति-मार्ग राजमार्ग जैसा प्रशस्त और अत्यन्त सुभीते और सरसता का मार्ग है। वे योग के अत्यन्त दुःसाध्य रास्ते कतई नहीं जाना चहतीं। गोपियाँ इस आशय की बेबाक बात कहती हैं :–

**काहे कौ रोकत मारग सूधौ।**
**सुनहु मधुप निरगुन कंटक तैं, राजपंथ क्यौं रूँधौं।**

योग, ज्ञानादि से युक्त निर्गुण-भक्ति की राह सगुण भक्ति-मार्ग की अपेक्षा हमेशा से कुछ सँकरी होती आई है, इसलिए उसके राहगीर कुछ कम ही होते आए हैं।

गोपियों ने मन की कुढ़न और झुँझलाहट के दबाव में आकर योग की विषमता, कुब्जा की कुरूपता आदि अनेक ऐसी मार्मिक बातों को लेकर बड़े तीखे और चुटीले व्यंग्य किये हैं। सुकुमार मति-गति की गोपियों के लिये योगमार्ग सर्वथा अनुकूल था। वे उसके साधन और साध्य दोनों के ग्रहण के लायक नहीं थीं। उनकी दृष्टि में छबीले मुखवाले कृष्ण को छोड़कर योगमार्ग को अपनाना माणिक्य के बदले राख को गाँठ बाँधना होगा :

**हमरे कौन जोग बिधि साधै।**
**बटुआ, झोरी, दंड, अधारी, इतननि को आराधै।।**
**जाकौ कहूँ थाह नहिं पैये, अगम अधार अगाधै।**

**गिरिधर लाल छबीले मुख पर, इते बाँध को बाँधै।।**
**सुनु मधुकर जिनि सरबस चाख्यौ क्यौं सचु पावत आधै।**
**सूरदास मानिक परिहरि के, छार गाँठि को बाँधै।।**

ध्यान देने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूर के इस उपालंभ काव्य की आधारभूत तत्त्व हैं नाना प्रकार के भावों से उपजी गोपियों के उत्तरों की वे व्यंग्योक्तियाँ, जिनसे प्रायः सर्वत्र ही कृष्ण के प्रति उत्कट और अनन्य अनुराग की प्रखर व्यंजना होती है। ऐसे कथनों की योजना इतने मार्मिक ढ़ंग से की गयी है कि उनके कवित्व की गुणवत्ता सहृदयों को बेतरह प्रभावित किये बिना नहीं रहती। उदाहरण के लिये गोपियाँ कृष्ण के कृष्ण वर्ण पर गम्भीर व्यंग्य करती हुई कहती है–" **जो पै भले होत कहुँ कारे, सौ कत बदल सुता लै जात।**" यह व्यंग्य हास्य-संपृक्त है- वसुदेव का लड़का के बदले लड़की ले जाना। घाटे का यह सौदा असह्य और अजार्ण कालिमा के कारण करना पड़ा, क्योंकि लड़के उस समय भी लड़कियों से अधिक मूल्यवान् माने जाते रहे, ऐसा उद्धृत पंक्ति के अर्थ से साफ ध्वनित होता है- यदि काले (कृष्ण) भले मानस (हितकारी) होते तो कौन उन (लड़का) के बदले लड़की स्वीकार करता ? यह उदाहरण यह भी व्यंजित करता है कि काले रंगवाले ह्रदय के भी काले (कलुषित) होते हैं, भले मानस नहीं होते। इसी तरह के व्यंग्य का एक और शोख उदाहरण देखिये, जिसमें कहा गया है कि पिछले जन्म में उन्हें (कृष्ण) सीता-वियोग का बहुत दुःख झेलना पड़ा तबसे अब जाकर उनकी जलती छाती कुब्जा से मिलकर ठंडी हुई :–

**सीता बिरह बहुत दुख पायौ। अब कुब्जा मिलि हियौ सिरायौ।।**

कहना न होगा कि हास्य-व्यंग्य-संयुक्त ये व्यंग्योक्तियाँ, शास्त्रीय दृष्टि से, असूया-भाव से प्रेरित रति की ही पोषिका होकर आई हैं।

कभी-कभी कुछ महामहिम आलोचक अपनी महिमा और विश्लेष-बुद्धि का नाजायज़ फायदा उठाकर ऐसी बातें कर जाते हैं, जो शत-प्रतिशत किसी परम प्रतिष्ठित और प्रमाणित सचाई का उल्लंघन करती नजर आती हैं। कौन नहीं जानता कि सूर और तुलसी दोनों ने समानरूप से लोक-संग्रह को ध्यान में रखते हुए क्रमशः भ्रमरगीत और 'मानस' के उत्तरकाण्ड में उन्मुक्त-भाव से यह कबूल किया है कि ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग ही अनेक दृष्टियों से विधेय है, फिर भी, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने गोप, गोपियों, भक्तों और स्वयं सूर का भी कृष्ण की अलौकिक लोक-लीलाओं से तादात्म्य दिखाने के लिए यह लिख मारा कि "वास्तव में, सूर का आशय न तो निर्गुण ब्रह्म के विरुद्ध सगुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा करना था और न उन्हें पंडों और पुरोहितों के विरुद्ध किसी प्रकार का आन्दोलन उठाना था"[1]।

मेरी दृष्टि से उनका यह कथन सर्वथा असंगत है। भ्रमरगीत का समग्र आयोजन विरह के व्याज से निर्गुण-सगुण के द्वन्द्व को दिखाकर सगुण को सुप्रतिष्ठ करना कवि का एकमात्र उद्घोषित उद्देश्य ठहरता है, जिसे मनगढंत तरीके से

1. महाकवि सूरदास, पृ0 166, सं0 1993 ई0 ।

नकारना संगत नहीं करार दिया जा सकता। आलोच्य कवि द्वारा स्वीकृत लक्ष्य को नकारना समीक्षा-सीमा का साफ-साफ उल्लंघन ही माना जाता है। प्रस्तुत हैं कवि की कतिपय ऐसी काव्य—पंक्तियाँ, जिनसे उसके उक्त उद्देश्य की स्पष्टतः पुष्टि होती है :-

**(अ) आयौ हो निरगुन उपदेसन, भयौ सगुन को चेरौ।**
**सूर मधुप उठि चले मधुपुरी, बोरि जोग कौ बेरौ।।**

**(आ) कहा करौं निरगुन लै कै हौं, जीवहु कान्ह हमारै।**

**(इ) हौं पचि एक कहौं निरगुन की, ताहू मैं अटकाऊँ।**
**वै उमड़े बारिधि के जल ज्यौं, क्यों हू थाह न पाऊँ।।**

**(ई) मेरौ कह्यौ पवन कौ भुस भयौ।**

हिन्दी में भ्रमरगीत-काव्य-परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय महाकवि सूरदास को दिया जाता है। यद्यपि सूर के पूर्ववर्ती महाकवि विद्यापति ने भी राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंग को लेकर बारंबार भ्रमर और कली के माध्यम से उसका वर्णन किया है तथापि उद्धव-गोपी-संवाद जैसे विषय से उसका कोई सीधा सरोकार न होने से हम उन रचनाओं को भ्रमरगीत-काव्य-परम्परा के अन्तर्गत नहीं मान सकते। ऐसा होते हुए भी यह बात जरूर है कि उनकी ऐसी रचनाओं में भ्रमर विषयक अवधारणा का प्रभाव परिलक्षित अवश्य होता है। हाँ, सूर के पश्चात् तो इस विषय को लेकर काव्य-सर्जन की एक सुदीर्घ परंपरा, छिटपुट रूप में ही सही, अब तक चली आ रही है। दूसरी प्रमुख बात यह कि सूरसागर में तीन भ्रमरगीत मिलते हैं, जिनमें प्रथम भ्रमरगीत (पद-संख्या 4078 से 4710 तक) ही मुख्य है और उसी में नंद, यशोदा तथा गोपियों के विरह का सुविस्तीर्ण वर्णन उपलब्ध होता है। शेष दूसरे भ्रमरगीत में कुल दो (पद-संख्या 4711-4712) और तीसरे में मात्र एक (पद-संख्या 4713) छंद पाये जाते हैं। बाद के ये दोनों भ्रमरगीत अत्यन्त संक्षिप्त हैं, जिनके विस्तार से उल्लेख के लिए यहाँ अवकाश नहीं है। लेकिन, सूर का यह प्रथम सुविस्तृत भ्रमरगीत विप्रलंभ भाव-राशि का ऐसा उद्वेलित अगाध पारावार है, जिसमें गोता लगानेवाला हर बिछोही मरजिया स्वानुकूल भाव-मोतियों को पाकर विलक्षण आनंद की अनुभूति करता है। यद्यपि सूर ने 'भागवत' को ही उपजीव्य मानकर अपने भ्रमरगीत की संरचना की है तथापि परिस्थिति की प्रेरणा से दोनों के दृष्टिकोण एवं लक्ष्य में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य पाया जाता है। जहाँ 'भागवत' के इस प्रकरण के आखिर में ज्ञान और प्रेम में समन्वय स्थापित कराकर दोनों को एक-दूसरे के समक्ष झुकता दिखाया गया है वहाँ सूर ने ज्ञान पर प्रेम या निर्गुण पर सगुण की विजय दर्ज़ करायी है।

काव्यपरक स्वाभाविक मार्मिकता और रमणीयता की दृष्टि से सूर का भ्रमरगीत भागवत की अपेक्षा कहीं बढ़कर है। कृष्ण के संदेश मात्र से गोपियों की प्रज्वलित विरहाग्नि को शमित होता दिखाकर भागवतकार ने मनोशास्त्र-संमत प्रकृत भाव-योजना का अनुसरण नहीं किया है। विरही-हृदय विविध और बहुमुखी वेदना से

आक्रांत होता है। संदेश मात्र का एकमुखी उत्तर उसे कैसे शान्त कर सकता है ? इतना ही नहीं, भागवत के भ्रमरगीत में जहाँ उपालंभ का स्वर प्रधान है और गोपियाँ जिसमें प्रायः सर्वत्र ही दैन्य, करुणा तथा वेदना से ओतप्रोत दिखायी गयी हैं वहाँ सूर ने अपनी विलक्षण कवित्व-प्रतिभा से ऐसे चुटीले व्यंग्यों मधुर उपहासों, सहज मनुहारों, रोषपूर्ण तिरस्कारों तथा मनोवेदना से आपूरित, आँसुओं का ऐसा विधान किया है, जिससे भाव-वैविध्य का अनंत क्षेत्र सामने आता है। इस सम्बन्ध की डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त की यह सूक्ति एकदम सटीक लगती है कि **"भागवत में भ्रमरगीत की रस की जो बूँद है उसे सूर ने सिंधु बनाकर सूरसागर में लहराया है।"** कथ्य और शिल्प की संतुलित मणिकांचनमयी शोभा-श्री से भी सूर-काव्य की महिमा अधिकाधिक बढ़ी है।

इनके अतिरिक्त, अंत में, आचार्य शुक्ल द्वारा कवि की वियोग-व्यंजना के विषय में की गयी उन बातों को समक्ष रखना चाहता हूँ, व्यावहारिक समीक्षा की परिसीमाओं को देखते हुए जो उन पर घटित नहीं, आरोपित प्रतीत होती हैं। वैसे तो जिन कारणों से आचार्य शुक्ल सूर के वियोग-वर्णन को अगंभीर मानते हैं, उनमें एक कारण स्थानगत दूरी का भी है। शुक्ल जी के अनुसार जिस वियोग में विरही राम और सीता के समान कई सौ कोस या दीपान्तर की दूरी न हो तो उसे गंभीर वियोग नहीं करार दिया जा सकता। इस दृष्टि से तो सूर का वियोग काफी हलका-फुलका साबित होता है, क्योंकि **"गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे।"**[1] तत्त्वतः यह प्रश्न स्थानगत दूरी का न होकर इस बात का है कि कोई दूर रहकर भी मानसिक रूप से निकटता का अनुभव कर सकता है तथा इसके विपरीत कोई दूसरा समीप होकर भी दूर होने का एहसास कर सकता है, जिसका स्पष्ट संकेत सूर ने यह कहकर किया है कि दादुर कमल के सन्निकट रहकर भी आजीवन उसके रस का अनुभव नहीं कर पाता और मधुप काठ–जैसी कठोर वस्तु को तो वेधने में समर्थ होता है, किन्तु संपुटित कोमल कमल में बँधकर रह जाता है, उसका भेदन नहीं कर पाता है। तात्पर्य यह कि ऐसे सभी व्यापार मनः प्रवृत्ति की देन होते हैं :

**दादुर बसत निकट कमलनि के, जनम न रस पहिचानत।**
**काठ फोर घर कियो मधुप पै, बँधे अंबुज के पात।।**

सच तो यह है कि कृष्ण अब किसी दूर देश में निवास करते हैं, यह गोपियों की विरह-व्यथा का प्रमुख कारण नहीं था वरन् उसका असली कारण कृष्ण का मथुरा पहुँचकर गोपियों के प्रति परिवर्तित (दूसरा) रूप धारण करना था। मतलब यह कि अब गोपियों के लिए उनके मनोभाव बदल गये थे। सारा रोना इसी बात का था। खेद है कि आचार्य शुक्ल की पैनी निगाह के नीचे कवि की यह अधोलिखित उक्ति क्यों

1. सूरदास, पृ. 95, ना. प्र.स., वाराणसी, दसवाँ संस्क.

नहीं आयी, जिसमें स्वयं रचनाकार ने उक्त दूरी के प्रश्न को भी सामने रखते हुए गोपियों के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि मधुवन (मथुरा) में रहते हुए कृष्ण (मन से) बदल से गये हैं वरना इतनी कम दूरी पर रहते हुए वे (कृष्ण) अपने दृष्टिकोण में "कछु औरै" (कुछ और ही) होने का फुतूर न पालते। व्यंजना यह कि कृष्ण का ऐसा करना नाजायज़ इसलिए था कि यदि किसी सम्भ्रम (कन्फ्यूजन) वश हमारे संबंधों में कोई दरार आ गयी तो उसका निवारण इतने नजदीक रहते हुए किया जा सकता था। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, फलस्वरूप बाट जोहते-जोहते हारना पड़ा :

**मधुबन बसत बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे।**
**इतिनिहि दूरि भये कछु औरै, जोई-जोइ मगु हारे।।**

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि एक ही चारपाई पर बैठे दो भिन्न मनःस्थिति के प्रेमियों को संयुक्त कतई नहीं कहा जा सकता, बदले मनोभावों के कृष्ण तो फिर भी गोपियों से काफी दूर थे।

**"मधुबन बसत बदलि से गे वे"** की एक और व्यंजना यह भी है कि कृष्ण के मथुरावासी जीवन की गतिविधियों ने ही उनमें यह (मानसिक) परिवर्तन लाने का काम किया है। यह कहना इसलिए सही प्रतीत होता है, क्योंकि कृष्ण का सम्पूर्ण मथुरिया जीवन आद्यंत राजनीति से इतना घिरा रहा कि उन्हें वैयक्तिक प्रेम आदि– जैसे विषयों की ओर झाँकने तक की फुरसत नहीं मिली। इसलिए, गोपियाँ उनके उस राजनीतिक जीवन पर भी फबतियाँ कसती हुई कहती हैं कि कृष्ण अब तो (जो पहले उनमें नहीं थी) राजनीति का पाठ पढ़कर राजनीतिज्ञों–जैसा आचरण करने लगे हैं :–

**हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।**
**इक अति चतुर हुते पहिलैं ही, अब गुरुग्रंथ पढ़ाए।।**
**बढ़ी बुद्धि जानी जो उनकी, जोग सँदेश पठाए।**
**अब अपने मन फेर पाइहैं, चलत जु हुते चुराए।।**
**ते क्यों अनीति करैं आपुन, जे और अनीति छुड़ाए।**
**राजधरम तौ यहै सूर, जो प्रजा न जाहिं सताए।।**

कहना न होगा कि 'राजनीति' शब्द यहाँ उस व्यंग्यार्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसे 'कूटनीति' कहते हैं और जिसका व्यवहार छलकपटपूर्ण आचरण के लिए किया जाता है। गोपियों ने कहा, एक तो वे पहले से ही अत्यंत चतुर थे, दूसरे अब तो उन्होंने राजनीति का गुरुग्रंथ पढ़कर अपनी बुद्धि को बहुत अधिक विकसित कर लिया है, जिसकी बहुत अच्छी पहचान उनका यह योग-संदेश कराता है। ध्यातव्य है कि गोपियाँ कृष्ण के योग-संदेश को उनके बदले मन का सर्वोपरि लक्षण मानती हैं। अब ऐसी स्थिति में वे सोचती हैं कि क्या कृष्ण उनके उस मन को उन्हें वापस कर सकेंगे जिसे मथुरा–प्रयाण के समय उन्होंने चुरा लिया था। समझ में आता नहीं कि जिन्होंने दूसरों की अनीति (कंस आदि) से पहले हमें छुटकारा दिलाया वे स्वयं कैसे अनीति

करने पर उतारू हो गये ? अर्थात् वे हमसे प्रीतिकर हमारे लिए योग–संदेश भेजने का अनैतिक काम क्यों कर रहे हैं ? और तो और हम यदि उन्हें अपना प्रेमास्पद न मान मधुपुरी-नरेश ही मानें तो भी उनके राज-धर्म का दायित्व भी यही है कि किसी भाँति भी (हम-जैसी) प्रजा को न सताया जाए।

यहाँ तक मैंने कवि के कतिपय काव्योद्धरणों के आधार पर यह बताने की कोशिश की कि गोपियों और कृष्ण के बीच वियोग की जो दरार पड़ी उसका मूलभूत कारण दूरी नहीं, गोपियों की ओर से कृष्ण के मन का बदलाव था, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण गोपियाँ उनके योग-संदेश-प्रेषण को मानती हैं। एक सगुण प्रेमी (भक्त) दूसरे सगुण सनेही का ही चाहक-गाहक होता आया है, निर्गुण तो उसे कटे पर नमक जैसा दुःखद प्रतीत होता है। गोपियों को कृष्ण का योग-संदेश कुछ ऐसा ही दुःखदायी जान पड़ा और उनके विपरीत हुए मन की पक्की सूचना भी मिल गयी। भला, ऐसी बदली मानसिकता के प्रेमास्पद से कौन स्वाभिमानी प्रेमी मिलना पसन्द कर सकता है ? इसलिए, आचार्य शुक्ल का स्थानगत दूरी को लेकर कवि के विरह-काव्य पर प्रश्नचिह्न अंकित करना, जायज़ नहीं माना जा सकता।

इतना ही नहीं, आचार्य शुक्ल ने सूर के बारे में ढेर सारी ऐसी बातें की हैं, जो प्रायः व्यावहारिक समीक्षा-सीमा का उल्लंघन करती हैं। प्रस्तुत है, आचार्य शुक्ल के ही शब्दों में कतिपय वे पंक्तियाँ, जिनमें तुलसी-काव्य-प्रतिमानों के आधार पर सूर के विप्रलंभ काव्य को निर्बल, असमर्थ, अशक्त आदि माना गया है :

**"प्रेम भी घटनापूर्ण नहीं है। उसमें किसी प्रकार का प्रयत्न विस्तार नहीं है, जिसके भीतर नई-नई वस्तुओं और व्यापारों का सन्निवेश होता चलता है। लोकसंघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है। उनकी रचना जीवन की अनेकरूपता की ओर नहीं गई है; बाल-क्रीड़ा, प्रेम के रंग-रहस्य और उसकी अतृप्त वासना तक ही रह गई है। जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उसमें वह वस्तु-गांभीर्य नहीं है, जो गोस्वामी जी की रचनाओं में है। परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखाई पड़ती, जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठक का काम-सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थी। गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोगवर्णन वियोगवर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध में नहीं।"**[1]

इस संबंध में यह विशेषतः ध्यातव्य है कि किसी कवि के काव्य-प्रतिमानों से दूसरे कवि के काव्य को नापना कहाँ तक संगत माना जा सकता है ? जबकि प्रत्येक

1. सूरदास, पृ. 95, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, दसवाँ संस्क.

कवि का अपना अलग-थलग व्यक्तित्व होता है, जो उसके काल, संस्कृति और न जाने किन-किन तत्त्वों के सम्मिश्रण से विनिर्मित होता है। कमल और गुलाब की संसृष्टि एक ही तरह के उपादानों से भला कैसे हो सकती है ? दोनों फूल तो हैं, मगर, अलग-अलग रूपरंग और सुवास के। यहाँ तक कि एक जलज है तो दूसरा थलज और एक तुषारापात से विसर्जित होता है तो दूसरा परम प्रफुल्लित। समीक्षा-विवेक की सबसे ऊँची कीर्ति-पताकावाले आचार्य शुक्ल यत्र-तत्र सर्वत्र तुलसी काव्य-मानों को भुला नहीं पाते, जिससे सचाई का निरपेक्ष स्वरूप सामने नहीं आ पाता है। हाँ, उससे उनकी आलोचना-वृत्ति की रुचि-कुरुचि की पहचान तो अवश्य हो जाती है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल की काव्याभिरुचि का मानदण्ड है तुलसी की काव्य-चेतना। किन्तु, ऐसा करने से काव्यालोचन के उस आधारभूत सिद्धांत की सरासर अवहेलना होती है, जिसमें आलोचक को आलोच्य वस्तु के भीतर से ही समीक्षा-दृष्टि प्राप्त करने की बाध्यता होती है।

आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त उद्धृत अभिमत पर गौर करें तो लगेगा कि किसी छोटे ही नहीं, बड़े से बड़े कवि के विप्रलंभ-चित्रण में यदि घटना-वैविध्य, नयी-नयी वस्तु तथा लोक-संघर्षजन्य तरह-तरह की व्यापार-योजना, जीवन की अनेकरूपता और वस्तु-परिस्थितिगत गंभीरता नहीं पाई जाती है तथा उसकी विरहिणी जब तक सीता की भाँति कई सौ कोस या दीपान्तर की दूरी पर दुष्टों से घिरी बैठी न हो तब तक ऐसी वियोग-व्यंजना हमारे महीयस् आचार्य को बैठे-ठाले का बेमानी और खेलवाड़ी करतूत जान पड़ती है। वास्तव में, आचार्य शुक्ल को सूर काव्य में ये जो कमियाँ और खामियाँ दिखाई पड़ीं, वे सभी जितनी किसी प्रबंध या महाकाव्य में मिलेंगी उतनी मुक्तक काव्य में नहीं, क्योंकि उनके लिए उसमें उतनी गुंजाइश ही नहीं होती। ऐसा मानते हुए भी शुक्ल जी का इस तरह पेश आना असंगत और अनुचित जान पड़ता है।

इस प्रकार समग्र कथ्य और शिल्प विषयक सूक्ष्मतम विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सूर ने अपने भ्रमरगीत के एक-एक पद में अपने हृदय के एक से एक विश्लिष्ट सुकुमार स्पंद को सुविचारित सुस्थ वाणी देकर सदा-सर्वदा के लिए सहृदयों का हिय-हार बना दिया है। इसके माहात्म्य का एहसास यों भी किया जा सकता है कि भ्रमरगीत को यदि सूरसागर से निकाल दिया जाए तो निश्चय ही वह "सागर" जीवनविहीन होकर रह जायेगा।

# आकलन

सूरदास कृष्णभक्ति-साहित्य के ऐसे मूर्धन्य महाकवि हैं, जिन्होंने अपनी भक्ति-साधना के सच्चे स्वरूप को पहचानते हुए उसमें तदनुरूप अपने अद्वितीय कवित्व और संगीत को मिलाकर ऐसा अनोखा और अनमोल पुटपाक तैयार किया, जिससे न केवल अध्यात्म-साधना का ही राजमार्ग प्रशस्त हुआ वरन् उसी के साथ ऐसे महिमंड काव्य की भी सृष्टि हुई, जिससे जन-मानस आज तक रसाप्लावित होता आ रहा है। सूरदास आद्यंत भक्त पहले हैं और कवि बाद में। उन्होंने काव्य-रचना के उद्देश्य से पद-रचना कभी नहीं की। उनके काव्य को उनकी भक्ति की चरम तल्लीन स्थिति का प्रदेय कह सकते हैं। भक्ति के अलावा उनकी कोई दूसरी वाँछा-आकांक्षा नहीं। परिणामतः जब उनका हृदय भक्ति के तीव्र आवेग से आपूरित होता है तब उनकी वाणी का निर्झर अजस्र रस-धार झरने लगता है। सूर-काव्य को हम इस दृष्टि से स्वतः स्फूर्त काव्य मान सकते हैं। भाव-चित्रण की सहजता कवि के काव्य की एक बड़ी पहचान है। इससे उसके काव्यास्वादन में सरसता का रुचिर संचार हुआ है। कवि के काव्य को अलंकृत करनेवाले समस्त उपादान रस, अलंकार, गुण, रीति आदि उसकी सहज वाणी की सहज देन कहे जा सकते हैं।

रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से सूर-काव्य को तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है। प्रथम कोटि में हम 'सूरसागर' की उन रचनाओं को रख सकते हैं, जो भगवदानुसारी चौपाई-चौपई छंदो में विरचित हुई हैं और जिनमें उत्कृष्ट कवित्व के दर्शन नहीं होते। दूसरी कोटि के अन्तर्गत हम भ्रमरगीत के तरह की रचनाओं को रख सकते हैं, जिनसे कवि के ध्वनि-काव्य का सर्वश्रेष्ठ परिचय मिलता है। ऐसी रचनाएँ कवि की नवनवोन्मेषिणी प्रज्ञा और वाग्वैदग्ध्य की सर्वोच्च पहचान कराती हैं। यही नहीं, उसकी ऐसी रचनाएँ उसे रससिद्ध कवि, प्रकांड पंडित और पारदर्शी कलाकार प्रमाणित करती हैं। तीसरी कोटि में आती हैं, लीला-काव्य की रचनाएँ, जिनके अन्तर्गत कवि ने कृष्ण की बाल और किशोर वय की लीलाओं का गानकर वात्सल्य और श्रृंगार की अप्रतिम रस-धारा प्रवाहित की है। ऐसे स्थलों पर कवि और साधक दोनों दूध और पानी-जैसे मिलकर ऐसे अभिन्न और अद्वय हो गये हैं कि उन्हें अलगाना बहुत मुश्किल होता है।

सूरदास के काव्य में क्लासिकल और रोमांटिक तत्त्वों का मेल भी मिलता है। कवि-द्वारा व्यवहृत अप्रस्तुत जहाँ उसकी रोमांटिकता की पहचान कराते हैं वहाँ उसके पदों की भावान्विति, परिपूर्णता आदि तत्त्व उसके क्लासिकल प्रेम का दम भरते हैं। सूर के काव्य में उच्चतम धर्म के साथ उच्चतम काव्य का सफल संयोजन हुआ है। उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन-स्रोत रस है और उसका शरीर मानवी है। सूर, इसीलिए, बराबर उस अलौकिकता की ओर इशारा करते चलते हैं। काव्य और अध्यात्म दोनों ऐसे मिले-जुले रूप में सामने आते हैं कि उनको विलगाना बहुत कठिन

होता है। ऐसा होने पर भी सूर का काव्य हमें अपने रस में पूरी तरह निमग्न किए बिना नहीं छोड़ता।

सूरदास आज भी श्रृंगार और वात्सल्य रस के बेजोड़ कवि हैं। इस महाकवि ने बालक की विभिन्न प्रकार की समग्र गतिविधियों और क्रीड़ाओं का ऐसा सहज, सरस, प्रकृत, प्रांजल, सूक्ष्म, मनोरम तथा सांगोपांग चित्रण किया है, जिसे देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैसे उसने इस वर्णन में बाल-भाव-कोश को पूरी तरह से खाली कर दिया हो। सूर के वात्सल्य-चित्रण का एक बड़ा मर्मस्पर्शी पहलू यह भी है कि यह मानते हुए भी कि कृष्ण वस्तुतः उनकी औरस संतान नहीं हैं, फिर भी यशोदा और नंद का स्नेह और उनकी वेदना वैसी ही फूट पड़ी है जैसे वे सचमुच उन्हीं की संतान हों। जन-मानस में आज तक हर गृहस्थ के घर की पुत्रवती माता को यशोदा–जैसी महनीया नारी और उसके पुत्र को बाल कृष्ण मानने की समझ देने का सर्वाधिक श्रेय सूर को ही दिया जा सकता है। सामान्य जन-जीवन में ऐसे जननी-जनक अब भी आसानी से मिल जायेंगे जो वात्सल्य अनुराग में निमग्न हो अपने पुत्र को कृष्ण मान केवल इतने से आकुल हो उठते हैं कि उसे चौखट लाँघते हुए कहीं चोट न लग जाए। यही नहीं शिशु-क्रीड़ाओं का अवलोकन कर जननी- जनक के हृदय पर पड़ने वाले प्रभावों, अनुभूतियों, आकांक्षाओं आदि के जो अत्यन्त प्रकृत और प्रांजल चित्र कवि ने अंकित किये हैं, वे निश्चय ही शाश्वत काव्य और विश्व-काव्य की कोटि में आते हैं। सूर ने वात्सल्य रस के संयोग और वियोग के नाना अत्यन्त मर्मस्पर्शी भाव-बिंबों की सृष्टिकर यह बता दिया कि अकेला श्रृंगार ही इन व्यापक दशाओं का अधिकारी नहीं है।

इसके अतिरिक्त, सूर ने रसराज श्रृंगार का जैसा रमणीय, सूक्ष्म, सरस और सांगोपांग चित्रण किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सूर मानव-प्रेम के सिरमौर कवि हैं। उनके इस मानवानुराग की छाया को जब तुलसी-जैसे महामहिम कवि भी नहीं छू पाते तो आधुनिक काल-प्रवाह के कवि प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, अज्ञेय आदि भला कैसे छू सकते है ? श्रृंगार की उभयपक्षीय नाना दशाओं के चित्रांकन में कवि की कला, कल्पना एवं मार्मिक काव्य-संवेदनाओं की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यंजना हुई है। इसीलिए, आचार्य शुक्ल को लिखना पड़ा कि **"श्रृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्णरूप से चरितार्थ कर दिखाया है तो सूर ने।"** या दूसरी तरह से शुक्ल जी ने इसे यों कहा है-**"सूरदास वात्सल्य और श्रृंगार का कोना-कोना झाँक आये हैं।"**

इतना ही नहीं, सूर-काव्य में कतिपय ऐसे भी प्रसंग पाये जाते हैं, जो कवि-हृदय की नितांत करुण संवेदना की बड़ी मार्मिक झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इन प्रकरणों के शब्दातीत उद्वेलित करुण भाव पाठकों को सराबोर कर देते हैं। ये प्रसंग हैं-नंद-विदाई, नंद-ब्रजागमन, सखी-वचन, यशोदा-विलाप, ब्रजदशा, यशोदा-संदेश आदि। इसलिए, सूर के रस-विमर्श के समय वात्सल्य और श्रृंगार के साथ उनके करुण रस को भी नहीं भूलना चाहिए।

सूर परले दर्जे के सुकोमल और सुकुमार मार्मिक मनोवृत्ति के महाकवि हैं। इसलिये, ऐसे ही वस्तु-विन्यास में उनकी चित्त-वृत्ति आद्योपांत रमती है, परुष और भयंकर भावों को वे उतनी तरजीह नहीं दे पाते। सही मानी में सूर सौन्दर्य और प्रेम के ही कवि प्रतीत होते हैं। सूर की उदात्त काव्य-चेतना आजीवन रमणीय अप्रस्तुत विधान, ललित शैली-विन्यास और कोमलकान्त पदावली का विनियोग कर वात्सल्य, श्रृंगार और सौन्दर्य की साधना में ही बराबर तन्मय और तद्गत देखी जाती है।

सूर ने प्रायः पहली बार अपनी गहन भक्ति-साधना के माध्यम से हिन्दी-काव्य को जो अपार सौष्ठव प्रदान किया वह उनकी पूर्ववर्ती समूची काव्य–परम्परा में विद्यापति के अतिरिक्त कहीं किसी में नहीं था। संभव है, विद्यापति इसके उत्प्रेरक कारण रहे हों। उनसे पहले की सिद्धों, चारणों और सन्तों की रचनाएँ न तो उतनी परिष्कृत थीं और न समृद्ध ही। गीति-काव्य और प्रामाणिकता की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' की स्थिति भी उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रह पाती है। उधर गोरखनाथ, नामदेव, कबीर आदि की बानियों में कवित्व के लिये उतनी गुंजाइश इसलिये नहीं रह गयी थी, क्योंकि उनकी अधिकांश रचनाएँ नीति, उपदेश, योग और सिद्धान्त-कथनों से परिपूर्ण होती थीं। हाँ, सूर ने संतों की पद-शैली के ढाँचे मात्र को अपनाकर उसे कवित्व से लबालब भरी नयी प्राणवत्ता प्रदानकर एक अत्यंत सरस साहित्य की सृष्टि की। इसके सिवा, सूर के काव्य-शिल्प पर विद्यापति का काफी प्रभाव पड़ा है। इस तरह, ब्रजी के वाल्मीकि सूर ने अपनी काव्य-साधना के माध्यम से पूर्ववर्ती काव्य–परम्परा से प्राप्त कविता की उस अव्यवस्थित और अराजक स्थिति को एक नयी व्यवस्था तथा साहित्यिक सरसता प्रदान की।

यही नहीं, सूर ने पहली बार उस अव्यवस्थित और असाहित्यिक जनबोली ब्रजी को अपने कीर्तन-गायन का माध्यम बनाकर उसका ऐसा विधिवत् संस्कार और परिष्कार किया, जिससे उसे साहित्यिक भाषा होने का गौरव मिला। सूर ने अपनी काव्य–सर्जना के माध्यम से ब्रजी को अभिव्यंजना के उन तमाम गुणों से श्रीसम्पन्न बनाया, जिनके आधार पर कोई भाषा साहित्यिक पद-प्राप्ति की अर्हता ग्रहण करती है। हिन्दी-गीतिकाव्य-परपंरा के निर्माण में सूर का योगदान अविस्मरणीय है। कवि ने अपनी गीतिकाव्य-संसृष्टि में संगीत-शास्त्र, संस्कृत-साहित्य और लोकगीतों का सहारा लिया है। उसके पद-शिल्प की प्रमुख विशेषता उसका वैविध्य है। उसके पदों में प्रयुक्त विविध प्रकार के राग, ताल, और छंद उनकी मनोहर झलक देते हैं। सूरदास के बाद, उनकी पद-रचना–प्रणाली के प्रभाव से दो तरह की छंद-शैलियों का प्रचार-प्रसार हुआ, जिनमें प्रथम, राग-रागिनियों से सम्बद्ध और द्वितीय, वह मुक्त छंद-प्रणाली थी, जिसमें सवैया, दोहा, चौपाई, घनाक्षरी आदि छंदों की गणना की जा सकती है। इस प्रकार, ब्रजभाषा को स्थिर मानकरूप प्रदान करने से लेकर भलीभाँति उसे समृद्ध करने और उसके शिल्प को सजाने-सँवारने तक का बखूबी काम किया सूरदास ने, जिसके नाते उन्हें इस क्षेत्र का शिरोमणि कवि माना गया।

सूर-काव्य के सामाजिक सरोकार पर विमर्श करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि **"उनकी रचनाओं में न तो जीवन के गम्भीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुए, न अनेकरूपता आई। श्रीकृष्ण का इतना चरित भी उन्होंने न लिया जो खण्ड-काव्य, महाकाव्य आदि के लिये पर्याप्त होता।" इस कथन के बारे में यह कहा जा सकता है कि ऐसा मत व्यक्त करते हुए आचार्य शुक्ल की दृष्टि 'सूरसागर' में वर्णित उन प्रसंगों की ओर नहीं गयी, जिनमें कृष्ण द्वारा राक्षसों, दानवों और दैत्यों के वध की बात की गयी है। आचार्य शुक्ल के उक्त अभिमत पर गम्भीर आपत्ति प्रकट करते हुए कृष्णभक्ति-साहित्य के पारंगत समीक्षक डॉ. विजयेन्द्र 'स्नातक' ने लिखा है कि" गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी और ईसा मसीह के चरित्र को उपजीव्य बनाकर लिखे गये काव्यों में युद्ध, संघर्ष और भौतिक द्वन्द्वों का वर्णन संभव नहीं हैं। अहिंसा, प्रेम, दया, करुणा और ममता आदि कोमल भावों का ही चित्रण ऐसे काव्यों में होगा। यदि इन कोमल भावों में किसी समीक्षक को गांभीर्य लक्षित न हो तो उसमें चरितनायक की त्रुटि नहीं है और न कवि की संवेदना, भाव-प्रवणता और मार्मिकता में ही दोष माना जायेगा"**[1]। इसी तरह, सूर-काव्य के सामाजिक पक्ष को लेकर आक्षेप किए जाते आये हैं और उनके उत्तर भी सुधी समीक्षकों ने अपने-अपने ढंग से दिये हैं।

सूर-काव्य के कथ्य को देखते हुए यह बात निर्भ्रांतरूप से कही जा सकती है कि कवि का एक मात्र उद्देश्य कृष्ण-लीला का गायन ही था। कवि के इस विषय की परिधि में सामाजिकता के जितने पहलू अँट सकते थे उतने का चित्रण उसने बखूबी किया है। सूर ने अपनी रचनाओं में लोक-संग्रह को ध्यान में रखकर समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक विषमताओं और स्वार्थपरता की मनोवृत्ति को मूल से मिटाने का प्रयास किया है। उन्होंने 'पुत्रजन्म', 'छठीव्यवहार', 'नामकरण' 'अन्नप्राशन' 'वर्षगाँठ', 'कनछेदन', 'यज्ञोपवीत' 'विवाह' संस्कारों के साथ पूजा, व्रत, स्नान, पर्व और उत्सव आदि बातों के भी मनोहर वर्णन किए हैं। यह बात अवश्य है कि सूर द्वारा विरचित समाज में प्रेम, सौंदर्य, माधुर्य और आनन्द के लिये जितनी जगह हैं उतनी कठिन, भयंकर, पुरुष-भाव-वृत्तियों के लिये नहीं। सूर-काव्य के मनोहर महल की नींव प्रेम-प्रीति ही है, जिसकी व्याप्ति लोक से लेकर परलोक तक है। उनका यह प्रेम तत्कालीन संत्रस्त, भग्न मनोरथ और हताश जन-जीवन को सांत्वना और प्रेरणा प्रदान करता है। कवि ने कृष्ण-लीला-गान के माध्यम से भक्ति, प्रेम, शृंगार और आनन्द का एक ऐसा पथ प्रशस्त किया, जिसे लोक-संग्रह का महान् मंगलमय कार्य माना जा सकता है।

सूर-साहित्य के नदीष्ण विद्वान् डॉ0 व्रजेश्वर वर्मा का यह निष्कर्ष इस संदर्भ में ध्यातव्य है कि **"उनके स्वानुभूतिमूलक गीतिपदों की शैली के कारण प्रायः यह**

1. 'सूर-मंदाकिनी' में संगृहीत 'सूर-साहित्य में लोक-मंगल के तत्त्व' नामक निबंध' से

**समझ लिया गया है कि वे अपने चारों ओर के सामाजिक जीवन के प्रति पूर्ण रूप से सजग नहीं थे, परन्तु प्रचारित पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर यदि देखा जाए तो स्वीकार किया जायगा कि सूर के काव्य में युगजीवन की प्रबुद्ध आत्मा का जैसा स्पन्दन मिलता है, वैसा किसी दूसरे कवि में नहीं मिलेगा। यह अवश्य है कि उन्होंने उपदेश अधिक नहीं दिये, सिद्धान्तों का प्रतिपादन पंडितों की भाषा में नहीं किया, व्यावहारिक अर्थात् सांसारिक जीवन के आदर्शों का प्रचार करनेवाले सुधारक का बाना नहीं धारण किया, परन्तु मनुष्य को भावात्मक सत्ता का आदर्शीकृत रूप गढ़ने में उन्होंने जिस व्यवहारबुद्धि का प्रयोग किया है, उससे प्रमाणित होता है कि वे किसी मनीषी से पीछे नहीं थे। उनका प्रभाव सच्चे कान्ता-सम्मित उपदेश की भाँति सीधे हृदय पर पड़ता है। वे निरे भक्त नहीं थे, सच्चे कवि थे-ऐसे द्रष्टा कवि, जो सौंदर्य के ही माध्यम से सत्य का अन्वेषणकर उसे मूर्त रूप देने में समर्थ होते हैं। युग-जीवन का प्रतिबिंब देते हुए उसमें लोकोत्तर सत्य के सौंदर्य का आभास देने की शक्ति महाकवि में ही होती है, निरे भक्त, उपदेशक और समाज-सुधारक में नहीं"[1]।**

इनके अतिरिक्त, सूर-काव्य उस कालजयी अमर साहित्य-श्रेणी में आता है, जिसमें किसी कृति का कलात्मक अथवा रसात्मक प्रभाव देश-काल के घेरे से मुक्त होता है। द्रष्टव्य है इस संदर्भ का डॉ. नगेन्द्र का यह मन्तव्य-**"सूरदास कवियों के कवि हैं, उनका काव्य सच्चे अर्थ में कालजयी है। आज के युग में या किसी परवर्ती युग में, जब तक काव्य के पाठकों की संवेदना श्रुति-सुखद वर्ण-लय की संयोजनाओं एवं भाषा के वक्र प्रयोगों से चमत्कृत होती रहेगी, जब तक वह सूक्ष्म, तरल, तीव्र, कोमल मानव भावनाओं की सरल विदग्ध अभिव्यक्ति के प्रति संवेदन का अनुभव करती रहेगी, तब तक सूर के काव्य की आस्वाद्यता में अन्तर नहीं आयेगा"[2]।**

कभी-कभी कुछ लोग सूरदास पर साम्प्रदायिक प्रचारक होने का आरोप लगाते हैं, निराधार होने से जिसे संगत नहीं माना जा सकता। सूर साहित्य के समग्र अनुशीलन से इस बात की स्पष्ट पुष्टि होती है कि **'पुष्टि मार्ग का जहाज' कहे जाने के बावजूद भी कवि ने अपनी स्वतः स्फूर्त काव्य-रचनाओं पर आद्योपांत अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं की ऐसी आँच जरा भी नहीं आने दी है, जिससे उसकी सर्जना बाधित हुई हो या लेश मात्र के लिये भी उसे साम्प्रदायिक प्रचारक करार दिया जा सके। ये मान्यताएँ कवि की रचनाओं के अतल तल में ऐसे सूक्ष्म और सहजरूप में वर्णित भावों का आवरण डाले गड़ी बैठी होती हैं, जिनके उद्घाटन में वही पटु पाठक समर्थ हो सकता है, जिसकी आँखें सूक्ष्मदर्शकयंत्र का काम करती हों।[3]**

---

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 2, पृ0 611, प्र0 संस्क0
2. 'सूर की सौन्दर्य-भावना और उसकी सार्थकता', सूर-मंदाकिनी, पृ0 10
3. वही, पृ. 11

मध्यकालीन भक्त महाकवियों में से जिन्होंने अपनी भक्ति-धर्म-समन्वित दिव्य काव्य-साधना से भारतीय लोक-मानस को अविस्मरणीय और अमिटरूप से सर्वाधिक प्रभावित किया है, उनमें सूर-तुलसी के नाम सर्वोपरि हैं। इसलिये, लोक ने समय-समय पर उन प्रभावों से प्रेरित हो जो प्रतिक्रियायें व्यक्त की हैं, वे लोकोक्तियों का रूप ग्रहणकर परम्परया चली आ रही हैं। ऐसी लोकोक्तिपरक समीक्षा-पद्य-पक्तियाँ आलोच्य कवियों का तुलनात्मक मूल्यांकन करती हैं और कभी किसी अकेले कवि को लेकर भी। इस दृष्टि से सूर की सर्वाधिक चर्चा तुलसी के साथ की गयी है। द्रष्टव्य हैं कुछ ऐसी उक्तियों के अंश-**'सूर सूर तुलसी ससी', तत्त्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी'** आदि। यहाँ स्थानाभाव से इन उक्तियों का समीक्षात्मक आकलन करना तो कठिन है, किन्तु, इस विषय में निचोड़रूप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन दोनों ही महाकवियों की दिव्य वाणियों का प्रभूत प्रभाव लोक-हृदय पर देखा जाता है परन्तु ऐसा होते हुए भी तुलसी सूर की अपेक्षा कुछ अधिक लोकप्रिय प्रतीत होते हैं। इसका प्रधान कारण दोनों कवियों के दृष्टिकोण-भेद को माना जा सकता है। दोनों में कथ्य और दृष्टिकोण के सिवा, उद्‌देश्य और आदर्श का भी पर्याप्त अन्तर है। सूर की दृष्टि जहाँ लीला-गान और कला का समाश्रय लेकर अग्रसर हुई है वहाँ तुलसी की शास्त्र और लोक को लेकर। सूर यदि सूक्ष्मता और गम्भीरता के कवि हैं तो तुलसी विशालता और सांगोपांगता के; एक की अभिव्यंजना तलस्पर्शिणी है तो दूसरे की सर्वतोमुखी।

निष्कर्ष यह कि सूर-काव्य में अनुभूति की जैसी गहन-गंभीर स्थिति देखी जाती है वैसी हिन्दी के किसी अन्य कवि में नहीं। प्रस्तुत है इस संदर्भ का विदग्ध काव्य-चिंतक जयशंकर प्रसाद का यह अभिमत-**"क्या कारण है कि रामचन्द्र के वात्सल्य-रस की अभिव्यंजना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई, जितनी सूरदास के श्याम की? मैं तो कहूँगा कि यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण।"**[1] अनुभूति की यह तीव्रता वात्सल्य के साथ उनके सख्य और दाम्पत्य में भी समानरूप से पाई जाती है। वास्तव में, सूर का अभिव्यंजना-सौंदर्य उनकी इसी अद्वितीय अनुभूति–तीव्रता के कारण ही बखूबी फूलता-फलता है। सूरदास की अर्चना करते हुए भारतेन्दु ने उनके विषय में जो कुछ कहा है उसका बहुत कुछ आज भी सच माना जा सकता है :–

**बल्लभ सागर, बिट्‌ठल जाहि जहाज बखान्यौ।**<br>**जग-कवि कुल मद हर्‌यौ प्रेम नीके पहिचान्यौ।**<br>**एक बृत्ति नित, सवा लाख हरि–पद रचि गाए।**<br>**श्रीबल्लभ बल्लभ अभेद करि प्रगट जनाए।**<br>**जा पद बल अबलौं नर सकल, गाइ गाइ हरि जस जियो।**<br>**अघ निकर सूर कर सूर पथ, सूर सूर जग मैं उयो।।**[2]

1. प्रसाद ग्रंथावली, खण्ड-4, पृ0 476
2. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (भक्तमाल उत्तरार्ध)

# सूर-संप्रसाद

(क)

उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन, अस्थिति अति भारी ।
बचन, प्रीति, निर्बाह, अर्थ अद्भुत तुकधारी ।।
प्रतिबिंबित दिबि दृष्टि, हृदय हरि–लीला भासी ।
जनम–करम गुन–रूप, सबै रसना जु प्रकासी ।।
बिमल बुद्धि गुन और को, जो वह गुन स्रवननि धरै ।
'सूर' कबित सुनि कौन कबि, जो नहिं सिर चालन करै।।

— नाभादास

(ख)

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर को पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन मन धुनत सरीर ।।

— तानसेन

(ग)

परमानँद अरु सूर मिलि, गाई सब ब्रज–रीति।
भूलि जाति बिधि भजन की, सुनि गोपिन की प्रीति ।।

— ध्रुवदास (सं0 1700)

(घ)

सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
अब के कबि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास।।

(ङ)

हरि–पद–पंकज मत्त अलि, कबिता रस भरपूर।
दिब्य चक्षु कबि–कुल–कमल, सूर नौमि श्री सूर।।

(च)

उत्तम पद कबि गंग के, उपमा को बलबीर।
केसव अर्थ गँभीर को, सूर तीन गुन धीर।।

(छ)

मन समुद्र भयो सूर को, सीप भये चख लाल।
हरि मुक्ताहल परत ही, मूँदि गये ततकाल।।

(ज)

सूर सूर हू तें अधिक, निसि दिन करत प्रकास।
जाको मन हरि–चरन में, ताकों देत बिलास।।
सारद बैठी कंठ तिहिं, निसि दिन करै कलोल।
हरि लीला रस पद कथत, नित नए सूर अमोल।।

– प्राणनाथ कवि (1680 वि0)

(झ)

जो तन लाग्यौ सूर सर, गई अविद्या भाग।
जरे दोष–दानव सबै, हरि–पद भौ अनुराग।।

– व्यासदास (18 वीं शती)

(ट)

कबिता करता तीनि हैं, तुलसी केसव सूर।
कबिता खोती इन लुनी, सीला बिनत मँजूर।।

(ठ)

तत्त्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही, और कही सो जूठी।।

(ड)

महामोह मद छाइ, अंधकार सब जग कियौ।
हरि–जस सुभ फैलाइ, सूर सूर–सम तम हर्‍यौ।।

(ढ)

बल्लभ सागर, बिट्ठल जाहि जहाज बखान्यौ।
जग कबि कुल मद हर्यौ, प्रेम नीके पहिचान्यौ।।
एक बृत्ति नित, सवा लाख हरि पद रचि गाए।
श्रीबल्लभ बल्लभ अभेद, करि प्रगट जनाए।।
जा पद बल अबलौं नर सकल, गाइ गाइ हरि जस जियौ।
अघ निकर सूर कर सूर पथ, सूर सूर जग मैं उयौ।।

— भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(ण)

अखिल अनूठी उक्ति युक्ति नहिं झूठी नेकु;
सुधाहू ते सरस सरस को सुनावतो।
उद्धत बिराग भाग सहित अनेक राग;
हरि को अदाग अनुराग को सिखावतो।
जगत उजागर अमर पद आगर;
सुनट नागर ध्याय सूरसागर को गावतो।
भाषैं रघुराज राधा माधव को रास रस;
कौन प्रगटावतो जो सूर नहीं आवतो।।

— रघुराज सिंह

(त)

सूरदास के समय में, जो कबि भये महान;
उन सब से बढ़ि कै सबै, इन्हैं करत सनमान।

(थ)

विद्यापति आदिक कवि, जितने भये सुजान।
काव्य भाव में सूर सम, तुलसी एक प्रमान।।

(द)

सूरदास ने बिरच सूरसागर अति भारी।
कृष्ण–भक्ति की ललित लहर जग में बिस्तारी।।

लिया बिषय जो हाथ, दूर तक उसे निबाहा।
एक न छोड़ा भाव, सब्द सागर अवगाहा।।
कर अमित बिषय बर्णन बिसद, सभी परम सुंदर कहे।
अब कबियों के हित सकल, इस कबि के जूठे रहे।।

– मिश्रबन्धु

## (ध)

ब्रजभाषा कवि–मंडल–मंडन सूर महाकबि।
कृष्ण प्रेम परकास करन, कैधौं दूजो रबि।।
उपमा रूपक ब्यंग्य, लक्ष्य–ध्वनि–कोबिद नागर।
जगत उजागर रच्यो, सवा–लछ पद कौ सागर।।
या सागर में भर्‌यो भक्ति– जल, बिमल अगाधा।
भाव–भँवर बिच झलक, दिखावै माधव–राधा।।
रसिक रँगीले मीन, लीन जहँ रहै निरन्तर।
लखौं अगोचर रूप, पलक बिच, परै न अन्तर।।
रचनाकौसल देखि, सुकविहू होत विघूर्नित।
पद–सायक ते आहत, पाये केते मूर्छित।।
गूँथी वत्सल भाव–कंज–कलियन की माला।
साँचेहु तो सँग सूर, सदा खेल्यो नँदलाला।

– वियोगी हरि

# उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

## साहित्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

| क्र.सं. | पुस्तक का नाम | लेखक का नाम | मूल्य |
|---|---|---|---|
| 1. | डा0 राजेन्द्र प्रसाद : एक युग स्मरण | सम्पा0 वाल्मीकि चौधरी | 200.00 |
| 2. | महाकवि अमीर खुसरो (अप्राप्त) | अनु0 अब्दुल सत्तार | 35.00 |
| 3. | कबीर | डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी | 40.00 |
| 4. | भुवनेश्वरः व्यक्तित्व एवं कृतित्व | सम्पा0 राजकुमार शर्मा | 90.00 |
| 5. | क्षेमेंद्र और उनका समाज | डॉ0 मोतीचन्द्र | 22.00 |
| 6. | सुब्रहम्ण्य भारती | सम्पा0 डा0 एन0 सुन्दरम | 165.00 |
| 7. | साहित्य मनीषी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल | डा0 रामचन्द्र तिवारी | 60.00 |
| 8. | भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र | राधा कृष्ण दास | 48.00 |
| 9. | राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त | सम्पा0 स्व0 डा0 ठाकुर प्रसाद सिंह | 175.00 |
| 10. | राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन | सम्पा स्व0 श्री कमलापति मिश्र | 125.00 |
| 11. | हरिश्चन्द्र | बाबू शिवनन्दन सहाय | 100.00 |
| 12. | बंशीधर शुक्ल रचनावली | सम्पा0 डॉ0 श्यामसुन्दर मधुप | 378.00 |
| 13. | आचार्य किशोरीदास वाजपेई | सम्पा0 डा0 मंजु लता तिवारी | 200.00 |
| 14. | गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' | सम्पा0 डॉ0 लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक' | 165.00 |
| 15. | गोस्वामी तुलसीदास | डॉ0 रामचन्द्र तिवारी | 50.00 |
| 16. | रामचंद्र शुक्ल | सम्पा0 प्रो0 सत्यदेव मिश्र | 15.00 |
| 17. | राष्ट्रकवि सोहन लाल द्विवेदी | डॉ0 राष्ट्रबन्धु | 40.00 |
| 18. | चंदवरदाई | डॉ0 सुमन राजे | 50.00 |
| 19. | कविवर सुमित्रानन्दन पंत | डॉ0 सुरेश चन्द्र गुप्त | 52.00 |
| 20. | कथाकार यशपाल | डॉ0 मनमोहन सहगल | 70.00 |
| 21. | सुभद्रा कुमारी चौहान | डॉ0 प्रतीक मिश्र | 55.00 |
| 22. | भगवती चरण वर्मा : एक व्यक्तित्व-चित्र | ज्ञान चन्द्र जैन | 70.00 |
| 23. | अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' | डॉ0 कन्हैया सिंह | 43.00 |
| 24. | मैथिलीशरण गुप्त | डॉ0 प्रभाकर शुक्ल | 50.00 |
| 25. | आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी | डॉ0 रामेन्द्र पाण्डेय | 50.00 |
| 26. | सेनापति | डॉ0 अनन्त राम मिश्र 'अनन्त' | 75.00 |
| 27. | गुरु नानक देव | डॉ0 मनमोहन सहगल | 90.00 |

सम्पर्क सूत्र
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

ISBN :978-93-82175-12-4

मूल्य रुपये 45=00